गुरु सन्देश

हम गुरु सन्देश सुनाते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।
यह परम लाभ की बातें है, इसको सब कोई क्या जाने।।
ऐसा जग में संयोग नहीं, हो जिसका कभी वियोग नहीं।
ऐसा कोई सुख भोग नहीं, जिसके पीछे दुःख रोग नहीं।
भोगी बन सब पछताते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।
है सफल उसी का नर जीवन, जो रहता जग में त्यागी बन।
जिसने जीता है अपना मन, दैवी सम्पत्ति ही जिसका धन।
वे महापुरुष कहलाते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।
धन पाकर जो दानी न बने, जो सरल निरभिमानी न बने।
जो ईश्वर का ध्यानी न बने, जो आत्म तत्व ज्ञानी न बने।
वह जीवन व्यर्थ बिताते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।
जो व्यक्ति वस्तु का दास नहीं, दोषों का जिसमें बास नहीं।
जिसमें दुर्व्यसन विलास नहीं, दुःख आते उसके पास नहीं।
वह 'पथिक' महद् पद पाते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।

ॐ **श्री परमात्ने नमः**

विविध योग

फोटो

— लेखक —

साधु वेष में एक पथिक

प्रकाशकः

श्री स्वामी पथिक अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति

28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ–226001

''श्रद्धा वही सुन्दर है जहाँ अहंकार समर्पित है।
ध्यान के साथ धैर्य रक्खो, चाहे जब मिले।
जब तक मोह है तब तक लोभ नहीं छूटेगा।
सद्गुरु के भक्त वही हो पाते हैं।
जो फल की आकांक्षा के त्यागी हैं
चाह से रहित हैं।''

जिससे कोई भूल न हो, भगवान वही है।
भूल हो, भूल का मान न हो, हैवान वही है।।
भूलों के रहते चित्त में, जिसको चैन नहीं आये।
अपना सुधार करता जाये, इन्सान वही है।।
आसुरी प्रकृति वह, जहाँ भूल का दुःख नहीं होता है।
जो भूल देखने दे न कहीं, अभिमान वही है।।
जो हानि देखनी पड़ती, वह सब भेंट भूल की है।
जो भूल करे वह भोगे, प्रकृति का विधान वही है।।
यह सारी भूल भोग सुख की, तृष्णावश ही होती है।
बस 'पथिक' जो कि तृष्णा तज दे, गतिमान वही है।।

संस्करणः 2016

पुस्तक मिलने का पताः

डॉ0 ताराचन्द क्लीनिक,

28, विधान सभा मार्ग, हुसैनगंज, लखनऊ–226 001
मो0 9415062640

सम्पाकीय—पुस्तकः—'विविध योग'लेखक— साधु वेश में एक पथिक
सम्पादकः—अमित निरंजन, हरिद्वार

यह मानव जीवन, ईश्वर की ही अनुकम्पा से प्राप्त होता है। समूचे ब्रह्माण्ड में एक से बढ़कर एक विविधताएँ हैं जिनका वैज्ञानिक जगत कहीं ना अन्त पा सका अपितु उनकी खोज का निष्कर्ष ही यही निकला कि— 'ब्रह्माण्ड विविधताओं से पूर्ण है'।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो भी कुछ उस ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ हमारी देह रूपी पिण्ड में भी व्याप्त है, तभी तो कहा जाता है कि— 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'।

'योग' के माध्यम से ही, भारतवर्ष के महान (दिव्य द्रष्टा) ऋषियों ने अपनी देह को ही प्रयोगशाला बनाकर इस ब्रह्माण्ड की विविध शक्तियों को स्वयं के ही भीतर जाग्रत किया। अतः हम कह सकते हैं कि—

'सुप्तावस्था से जाग्रतावस्था की ओर ले जाने वाली विद्या का नाम योग है'।

परम पूज्य स्वामी 'पथिक जी महाराज' ने ''विविध योग'' पुस्तक के माध्यम से साधक—साधिकाओं के समक्ष योग के विविध स्वरूपों का सविस्तार वर्णन करते हुए हमें सार रूप में बताया कि, व्यक्ति का अन्तरमन विविध क्षेत्रों में ना भटके अपितु परमात्मा की भक्ति एकाग्रतापूर्वक सम्पादित करे — यही विविध योग का मर्म है।

योग आत्मा—परमात्मा के मिलन की प्रक्रिया का नाम है। जिस भी साधन से भगवत्व प्रेम में वृद्धि होती हो वही 'सच्चा योग' है और जिन—जिन तत्वों के कारण भगवत्व प्रेम में न्यूनता की वृद्धि होती हो, वही 'कुयोग' है।

अष्टावक्र गीता में अष्टावक्र जी ने उक्त सूत्र में योग के गूढ़ विज्ञान को रहस्योद्घाटित किया है —

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरू ।।

अर्थात— विषयों में विरसता (वैराग्य) मोक्ष है एवं विषयों में रस (राग/आसक्ति) ही बंधन है। तू जैसा चाहे वैसा कर।

इस गूढ़ विज्ञान का तात्पर्य यही है कि जब तक साधक की आंतरिक चेतना परिशुद्ध नहीं होती तब तक बाहरी तौर पर कितने ही प्रयास किए जाएँ लेकिन वासना पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे ही साधक की आंतरिक चेतना में सत्वादि तत्वों का प्रकाश जगमगा जाता है फिर वहाँ कभी अंधेरा नहीं

होता है। ऐसी स्थिति में साधक बाहरी अनुबन्धों की परवाह किये बगैर भी मूल स्वरूप में स्थिर रहेगा।

बीजांकुर भीतर से ही होता है, जब आंतरिक चेतना में इन्द्रियों की हलचलें एकाग्रता भंग करने में असमर्थ हो गईं तब साधक मोक्ष (परम स्वातंत्र्यावस्था) की अनुभूति में रमण करता है।

जिनके अंतरमन में विकट वासनाएँ चल रही हैं उनका जन्म एक ना एक दिन होकर ही रहता है। वह साधक चाहे बाहरी हठयोग या आडंबर योग से कुछ काल तक बाहरी दिखावा तो कर सकता है लेकिन वास्तविक तौर पर वह वासना के कीचड़ से निकल ही नहीं पाता है।

हम सब साधकगण ''विविध योग'' पुस्तक का एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय करें एवं योग की वास्तविकता का लाभ उठाएँ। आंतरिक चेतना का परिशोधन करें, हमारी अभीप्सा सदैव परमार्थ की रहे (सर्वभूतहिते रताः) अपना सच्चा कल्याण चाहने वाले प्रत्येक आकांक्षी को भूलकर भी स्वार्थ (वासना) को गले नहीं लगाना चाहिए क्योंकि साक्षत् सर्प को गले लगाने के समान ही यह अनूभूति होगी।

सम्पादक–
अमित निरंजन

विषय सूची

विषय   पृष्ठ संख्या

विविध योग की आवश्यकता

- ✓ शरीर पर आसनों का प्रभाव
- ✓ आसनों द्वारा उपचार
- ✓ उष्ण प्राणायाम
- ✓ ठण्डा प्राणायाम
- ✓ शीतली प्राणायाम
- ✓ भस्रिका प्राणायाम
- ✓ सन्त वचन
- ✓ प्रेरणा

सत्सवां योग

- ✓ यथार्थ दर्शी

सद्विवेक योग

ब्रह्मचर्य योग

- ✓ बुद्धि दृष्टि का सदुपयोग

सेवायोग

- ✓ निरीक्षण

साधन सुयोग

- ✓ चेतावनी
- ✓ निष्काम जीवन
- ✓ जाग्रति सन्देश

अभ्यास योग

शास्त्रीकृ अन्तर तत्व विज्ञान योग

- ✓ चौदह त्रिपूरी जाग्रत अवस्था की
- ✓ नाभि व उनके कार्य

भक्ति योग

- ✓ भक्ति योग में श्रवण का महत्व
- ✓ परमार्थ

हरिनाम संकीर्तन योग

- ✓ बुद्धि दृष्टि का सदुपयोग

जपयोग

- ✓ जप के प्रकार
- ✓ रस की निस्सारिता

बुद्धि योग

साधना मय जीवन के कर्त्तव्य

विविध योग की आवश्यकता

प्रत्येक मनुष्य का संयोग संसार की विविध वस्तुओं से हो रहा है। प्रत्येक संयोग का अन्त वियोग में होता है। जितना ही अधिक संयोग में सुख प्रतीत होता है उतना ही अधिक वियोग का दुःख भोगना पड़ता है। उसी दुःख भोग से थक कर मनुष्य जब शान्ति की अभिलाषा करता है तब उसे संयोग की आसक्ति से मुक्त होने के लिये जो उपाय बताये गए हैं उन्हीं को विविध योग कहते हैं।

यदि एक वस्तु से संयोग होता है तो उससे मुक्त होने के लिये एक ही योग साधना से काम चल जाता लेकिन जहाँ विविध नाम रूप वाली वस्तुओं से संयोग है तब विविध प्रकार के योगाभ्यास की आवश्यकता होती है।

बन्धनों से मुक्त होने के लिये कुछ उपाय ऐसे हैं जिनमें अभ्यास की प्रधानता रहती है, कुछ उपायों में भाव की प्रधानता एवं कुछ ऐसे भी साधन हैं जिनमें ज्ञान की ओर कुछ में प्रेम की प्रधानता रहती है।

योग का सरल अर्थ है दो का एक हो जाना। जिस उपाय से दो वस्तु एक में जुड़ जाती हैं उसे योग साधना कहते हैं। जिससे जीव ब्रह्म की एकता अनुभूत हो वही योग साधना है। जीवात्मा साधक है, जीवात्मा विविध शक्तियों से एवं वस्तुओं से, विविध भावनाओं, विचारों अथवा शारीरिक इन्द्रियाँ मन बुद्धि से संयुक्त है। जो कुछ भी जीवात्मा को मिला है उसी के द्वारा सुख का तथा दुःख का भोगी बन

रहा है। भोग का दुष्परिणाम देखकर उससे मुक्त होने की जो भी साधना है उसी को विविध योग नाम दिया जा रहा है।

यह विविध योग परमार्थ–पथ में चलते हुए मुझे सन्तसंग एवं स्वाध्याय से प्राप्त हुआ है। इस योग की पूर्णता से संयोग की दासता और वियोग का भय, लाभ का लालच और हानि का भय, जीवन का अज्ञान और मृत्यु का भय मिट जाता है।

इस विविध योग का अध्ययन पशु प्रकृति के तथा आसुरी प्रकृति के प्राणी नहीं कर सकेंगे। वह तो इस प्रकार की बातों का उपहास करेंगे। इसका मनन तो वही करेंगे जिनमें कुछ मानवता जाग्रत होगी।

पशु प्रकृति के प्राणी को इन्द्रियों के विषयरस में घोर आसक्ति रहती है। आसुरी प्रकृति के मनुष्यों को विषय–रसासक्ति के साथ धन का लोभ और अधिकार–मान की तृष्णा प्रबल होती है, किन्तु जहाँ मानवता जाग्रत हो जाती है उसके स्वभाव में मान, धन तथा भोग के लिये धर्म मर्यादापूर्वक पक्ष होता है और दुःखों की निवृत्ति परमानन्द की प्राप्ति की अभिलाषा प्रबल रहती है–उन्हीं के लिये यह योग साधना है।

प्रायः मर्यादित श्रम के बिना शरीर रोगी रहता है। आहार–विहार में असंयम होने के कारण शरीर के साथ इन्द्रियाँ दोषयुक्त हो जाती हैं। सुखोपभोग में आसक्ति के कारण मन रोगी हो जाता है।

अविवेकवश स्वार्थ अभिमान की प्रबलता के कारण बुद्धि भी दूषित रहती है।

श्रम से आलस्य दूर रहता है। संयम से इन्द्रियों की दुर्बलता दूर होती है, शक्ति आती है। विराग से राग की निवृत्ति होती है, अनेकों विकार नष्ट हो जाते हैं और विवेक से जीवन–यात्रा अन्धकाररहित होकर प्रकाशमय होने लगती है। इस क्रम में जीवन का जो परम लक्ष्य है उसकी प्राप्ति हो जाती है।

करोड़ों प्राणी ऐसे हैं जिनके जीवन में दुःखों को मिटाने का, परमशान्ति प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे प्राणी दुःखी होकर सुख ही चाहते हैं, शान्ति नहीं चाहते हैं। उन्हें सुख और शान्ति का भेद ही विदित नहीं है। इसीलिये अज्ञानवश प्रयत्न के द्वारा सभी प्राणी सुख से दुःख को दबाते रहते हैं, परन्तु मिटा नहीं पाते। इसीलिये उनके जीवन में कुछ समय के लिये सुख की प्रतीति तो होती है, पर दुःखों का अन्त नहीं होता। सुख चाहते हुए भी सदा एक समान रह नहीं पाता और दुःख न चाहते हुए भी बिना बुलाये बार–बार आता ही रहता है।

अनेकों जन्म बिताने के पश्चात् बुद्धि में विचार का बल जाग्रत होता है, तभी अपने कल्याण का प्रश्न उठता है। उन्हीं के लिये यह विविध योग विचारणीय हैं जिस किसी प्रकार से नित्य निरन्तर

विद्यमान परमात्मा से सम्बन्ध जुड़ता है अथवा नित्य प्राप्त की अनुभूति होती है उसे ही योग कहते हैं।

किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति अथवा परिस्थिति का भोग ही योगानुभूति में बाधक है।

किसी भी प्रकार से जब भोग–वृत्ति शान्त होती है उसी को योग साधना कहते हैं।

जीवात्मा के साथ देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी वस्तु मिली है, जितनी भी शक्ति योग्यता सुलभ है वही उस परमात्मा की योगानुभूति के सहायक साधन हैं–जिस परमात्मा से सब कुछ मिला है। विवेकपूर्वक निरीक्षण करने से यह भी ज्ञात हुआ कि जो कुछ मिला है वह अपना नहीं है, जिसके विधान से मिला है वह परमात्मा ही अपना है। परमात्मा की नित्य योगानुभूति में ही समस्त दुःखों, बन्धनों तथा सभी प्रकार के भय का अन्त हो जाता बहै।

योगी महापुरुषों ने योग के अनेक नाम वर्णित किये है–

आध्यात्मिक ग्रन्थों अथवा आचार्यों द्वारा सांख्ययोग (ज्ञान योग) भक्ति–योग, प्रेमयोग, मन्त्रयोग, कुण्डलनी–योग, राजयोग, शरणागति योग, अष्टांगयोग, समाधियोग, सुरति शब्दयोग, सिद्धयोग, शिवयोग, अस्पर्शयोग, तन्त्रयोग, महायोग, स्वरोदय योग, जपयोग, बुद्धियोग, ध्यानयोग, विरहयोग, सर्वांगयोग, सत्संग योग, अनासक्तियोग, नाम संकीर्तनयोग, क्रियायोग इत्यादि अनेक नाम पढ़ने–सुनने में आते हैं।

जिस किसी प्रकार की क्रिया पद्धति तथा भावना एवं विचार ज्ञान प्रेम द्वारा साधक जड़ता से चेतना की ओर, असत् से सत् की ओर, अनित्य से नित्य की ओर, देह से आत्मा की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, कार्य से कारण की ओर दृश्य से अदृश्य की ओर, वाह्य से अन्तर की ओर, परिधि से केन्द्र की ओर लौटता है, वही योग साधना है।

जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित आत्मा में स्थिर हो जाती हैं बुद्धि भी मौन हो जाती है। उसी स्थिर मन तथा बुद्धि की शान्तावस्था में जो साधक व्यापक परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करता है—यही योग है।

तं दुर्दशं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणाम्।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।।

अर्थ—वह आत्मा जिसका दर्शन अति कठिन प्रतीत होता है जो गूढ़ गहन है; हृदयरूपी गुहा में विद्यमान है, जो पुरातन अर्थात् सब कुछ के प्रथम से ही है उसे अपने ही आत्मा में अर्थात् स्वयं के ही द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष—शोक की परिधि को पार कर जाता है।

(कठोपनिषद् 1/2/12)

योगशिखोपनिषद में भगवान शंकर ने निर्णय दिया है कि कर्म—बन्धन से मुक्त होने के लिये कोई योग का और कोई ज्ञान का आश्रय लेता है किन्तु योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी

मोक्षप्रद नहीं होता। यह समझ लेने योग्य बात है कि जो ज्ञान, जो भाव, जो प्रेम, जो कर्म, जो अनुष्ठान योग के लिये नहीं होगा वही भोगी के लिये भोग का साधन बन जायेगा।

जो कर्म भोग के लिये नहीं होगा वही कर्मयोग होगा। जिस भाव का भोग न होगा वही भक्तियोग होगा। जिस ज्ञान का भोग न होगा वही ज्ञानयोग होगा। जिस प्रेम का भोग न होगा वही प्रेमयोग होगा। जब यम नियम आसन प्राणायाम धारणा ध्यान समाधि के द्वारा संसार से धन, मान आदि की भोगेच्छा न रहेगी तभी वह अष्टांगयोग होगा।

किसी प्रकार का भोग न चाहने पर ही मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, ध्यानयोग, तन्त्रयोग, सुरतिशब्दयोग आदि के द्वारा पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। योग के मध्य में भोग ही बाधक है। भोग के त्याग से विविध योग की सिद्धि सुलभ होती है।

मानव समाज में अनेक प्रकार के योग प्रचलित हैं। सहस्रों योगाभ्यासी देखे जाते हैं परन्तु सिद्ध कोई विरले ही मिलते हैं क्योंकि दर्शकों की दृष्टि में तो योगी बन जाते हैं पर अपनी दृष्टि से भोगवृत्ति का त्याग नहीं कर पाते।

श्रीमद्भगवद् गीता में अठारह योगों के नाम हैं जो कि प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में पाठकजन पढ़ते ही हैं। इसके अतिरिक्त गीता में विशेष प्रकार से योग की व्याख्या की गई है।

- बुद्धियोग की साधना में सब कुछ को साक्षी भाव से देखते हुए मन की पूर्ति न करके उसे अपने पीछे चलाना होता है।
- भक्तियोग की साधना में भगवान के नाम, रूप, लीला धाम के स्मरण चिन्तन में मन चित्त को लगाना होता है।
- कर्मयोग की साधना में निष्काम सेवा के महदफल का ध्यान रखकर मन को पावन बनाना होता है।
- हठयोग की साधना में विविध सिद्धियों का लालच देकर मन को दबाना होता है।
- भावयोग की साधना में अपने भावानुसार प्रेमास्पद प्रभु को पाकर विविध लीलाओं के रस में मन को डुबाना होता है।
- ज्ञानयोग की साधना में निरन्तर तत्त्व का ही ध्यान रखते हुए मन को मिटाना होता है।
- प्रेमयोग की साधना में मन को कामना की परिधि से मुक्त कर निष्काम बनाना होता है।
- लययोग की साधना में नादानुसन्धान द्वारा मन को रिझाना होता है।

दानं स्वधर्मो नियमोयमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद् ब्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रह लक्षणान्ताः, परोहि योगो मनसः समाधि।।

दान, नियम, यम, व्रतादि का अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाये। मन का शान्त समाहित हो जाना ही परमयोग है।

(भा0 11/23/46)

मन द्वारा सुख दुःख की प्रतीति होती है। मन द्वारा ही यह सारा संसारचक्र चल रहा है। मन द्वारा भोग है, मन द्वारा ही योग है। साधकों के लिये सन्त का यह उपदेश बहुत हितप्रद है—

(1) मन को उसी भांति देखते रहो जिस भांति कोई योग्य स्वामी अपने सेवक के कार्यों का निरीक्षण करता है।

(2) मन को सदा आवश्यक कार्यों में लगाये रहो और जब कोई कार्य न हो, उसे केवल तटस्थ रहकर देखते रहो।

(3) रजोगुण की अधिकता में परमात्मा के नाम का जप करो।

(4) तमोगुण की अधिकता में नाम कीर्तन करो।

(5) सतोगुण की प्रधानता में शान्त होकर ध्यान में हो जाओ।

(6) कोई भी सेवा करते हुए राग, द्वेष, अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, कामादि विकारों से सावधान रहो।

(7) वाणी की मधुरता को कटुता—कठोरता में न बदलो, कर्कश स्वर में गर्जना करते हुए चिल्लाकर न बोलो।

(8) किसी को तुच्छ, हीन मानकर गर्व न करो।

(9) आँखों से जो कुछ देखो, कानो से जो कुछ सुनो वह यदि किसी के लिये हितकर आवश्यक न हो तो कदापि न कहो।

(10) उछल–कूदकर न चलो, देखकर पैर रक्खो।

(11) किसी से विवाद न करो, मौन हो जाओ, वादी को ही बोल लेने दो, अपने को उत्तेजित न होने दो।

(12) कोई आग डाले तो तुम शीतलता धारण करो।

(13) कर्त्ताभिमानी अहंकार के पीछे साक्षी चैतन्य को देखते रहने के लिये सावधान रहो।

(14) अशुभ अभ्यास को छोड़ने के लिये शुभ सुन्दर हितकर का ही अभ्यास करो क्योंकि अभ्यास के बदलने में अभ्यास ही सहायक है।

(15) सुखासक्ति के कारण जहाँ मन लगता है उसमें विचारपूर्वक परिणाम को देखते हुए राग का त्याग करो अर्थात् वैराग्य बढ़ाओ।

(16) तन से, वाणी से, मन से किसी प्राणी को दुःख पहुंचे, तब हिंसा को पहिचानो।

(17) जब किसी प्रकार की हिंसा बन जाये तब असावधानी, प्रमाद, द्वेष अथवा क्रोध का निरीक्षण करो।

(18) क्रोध, द्वेष, प्रमाद के मूल में रहने वाले अभिमान को देखो।

(19) अभिमान के मूल में रहने वाले अज्ञान को ज्ञान से देखो।

(20) द्वेष तथा क्रोध की निवृत्ति के लिये परमात्मा को जानो और सर्वात्मा से प्रेम करो।

(21) जिससे द्वेष हो, रात में उसका मानसिक ध्यान करते हुए प्रेमपूर्वक मन ही मन प्रेमालाप करो।

(22) आत्मकल्याण के लिये, उद्योग की सफलता के लिये सदाचार, संयम, सेवा, सद्भावना, सद्विवेक एवं प्रेम को पूर्ण बनाओ।

(23) एकान्त साधना में यदि मन ऊबने लगे, घुटने लगे तो उसे ऊबने दो घुटने दो। यदि उसे खुराक न दोगे तो मन सूख जायेगा, धीरे–धीरे शान्त शुद्ध हो जायेगा।

यह मनस्य जीव मन के साथ मिलकर सुखमय, दुःखमय, हर्षमय, शोकमय, देहमय, जातिमय, साममय, रूपमय, भोगमय, क्रोधमय, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषमय, बन जाता है। यह मन ही सर्व शक्तिमय है। यह मन ही शुभमय, अशुभमय, पाप–पुण्यमय है। यह मन जहाँ लगता है जिससे मिलाया जाता है उसी मय बन जाता है, इसीलिये यह मन ही साधनाभ्यास द्वारा ज्ञानयोग द्वारा शिवमय, ब्रह्ममय, हरिमय हो जाता है।

अविवेकी साधक मन से लड़ते हैं, मन को कोसते हैं परन्तु विवेक द्वारा इस मन का सदुपयोग होने पर यही मन समस्त सिद्धियों का साधन बन जाता है।

अनुभवी आचार्य ने सावधान किया है कि इस मन के पीछे न पड़ो, इस मन को बुराई से हटाओ, तुम स्वयं बुराई से हटो। इस मन को भगवान में न लगाओं, प्रथम तुम लगो। इस मन को न रोको, प्रथम तुम स्वयं रुको और रुक कर मन को देखते रहो। मन से कोई काम न लो, मन को भोग का साधन नहीं बनाओ। तुम मन से उतर पड़ो, फिर मन को भागने दो।

हम अनेक साधक मन की बहुत ही निन्दा करते हैं, मन से परेशान रहने की बात करते हैं। आश्चर्य यह है कि हम स्वयं तो अपने आप में रुकते नहीं हैं, मन को रोकना चाहते हैं। मन से काम लेते रहते हैं और मन की चंचलता को कोसते रहते हैं, स्वयं भगवान से प्रेम नहीं करते ओर मन भगवान में लगाना चाहते हैं, स्वयं भोग सुख में आसक्त रहकर मन को परमात्मा का योगी बनाना चाहते हैं।

मैंने एक आचार्य के प्रवचन में सुना कि सत्य परमात्मा का योगानुभव करना हे तो अकेले एक तुम ही रह जाओ, मन का संग छोड़ दो। मन ही सत्य परमात्मा के मध्य एक दीवार की भांति दर्शन में बाधा है या तो परमात्मा में मन से लगो या फिर मन से हटो।

विचारों का संकल्पों का ढेर ही तो मन है। जहां विचार शान्त हैं, वहां मन नहीं रहेगा।

हम लोग मन से लड़ते रहने को मनोजय की साधना मानते हैं। परन्तु अब ज्ञात हुआ कि मन से लड़ना नहीं है, उससे डरना नहीं है, विचारों को देखना है और उनसे असंग होना है। मन को छोड़ देना है और उसे केवल देखना है, देखते ही मन शान्त हो जायेगा। सरोवर में तरंगों की भांति चिन्मात्रस्वरूप में विचार तरंगें उठ रही हैं। तरंगें शान्त हो जाती हैं तब सरोवर शान्त हो जाता है। मन के शान्त होने पर जो शेष रहता है उसे ही सन्तजन शास्त्र, आत्मा–परमात्मा कहते हैं।

असहयोग करते–करते मन स्वतः शान्त हो जाता है। यदि कामनाओं इच्छाओं की पूर्ति का सुख भोग चलता रहता है तब मन शान्त नहीं होता है।

सन्त का आदेश है कि अपने चिन्मात्र ज्ञान स्वरूप को जानो, उसी का चिन्तन करो, क्षुद्र विनाशी देह के रूप का चिन्तन छोड़ दो। स्मरण रहे कि मन, बुद्धि, अहं के द्वारा परमानन्द प्रभु को नहीं पकड़ा जा सकता। अतः इन सबका आश्रय छोड़कर निराश्रय हो जाओ, तभी अपने को परमाश्रय में देख सकोगे।

सन्त का यह भी निर्णय सत्य है कि जब तक भोगी का मन स्त्री में आसक्त रहता है, लोभी का मन धन में आसक्त रहता है तब

तक सन्तों महात्माओं के व्याख्यानों का समुचित प्रभाव नहीं पड़ता, आवरण में नहीं ला पाता। जो मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ति के लिये ही किसी से स्नेह करता है, जिससे उसके मन में सुःखद वस्तु अथवा व्यक्ति में आसक्ति बनी रहती है।

यदि किसी सम्बन्धित व्यक्ति में आसक्ति है तब उससे अपने मन की पूर्ति का पक्ष छोड़कर उसी की सेवा करने से आसक्ति छूट जाती है। यदि किसी वस्तु में या धन में आसक्ति है तब उस वस्तु के द्वारा, सम्पत्ति के द्वारा अभाव पीड़ितों दुखियों की सेवा करते रहने से भी आसक्ति मिट जाती है।

मनुष्य के साथ मन अद्भुत कारण है, मन कर्त्ता नहीं है, मन के साथ मनोमय जीवात्मा ही कर्ता–भोक्ता है। मनोमय जीवात्मा ही पाप–पुण्य बन्धन मुक्ति स्वर्ग–नर्क सुख–दुःख का भोग करता है। मनोमय जीवात्मा ही जन्म–मृत्यु को देखता है। मन के साथ ही संसार का सम्बन्ध है और मन के ही द्वारा संसार से विरक्त होकर परमात्मा में अनुरक्ति होती है। मन के संग से ही सारा प्रपंच है। मन के संग रहने तक ही परमार्थ सिद्धि की अभिलाषा है। मन का संग छूटे तो संसार ही छूट जाये।

हम लोग जब सुखास्वाद में लीन रहते हैं तब मन को पूरी शक्ति से पकड़े रहते हैं और सुखोपभोग का परिणाम दुःख आता है तब मन का विरोध करते हैं। परन्तु मन कोई वस्तु नहीं है कि चाहे

जब इसे छोड़ दें और चाहे जहां पकड़ कर काम लेने लग जायें। जो मन को पकड़ेगा उससे ही मन ऐसा चिपट जायेगा कि तपाने–गलाने से भी वह नहीं छूटेगा, भीतर ही घुसता जायेगा।

मन से असंग होने का एक उपाय यह भी है कि इससे कोई काम न लें इसे केवल साक्षी होकर देखते रहें।

जिस प्रकार किसी नाड़ी के संयोग से नेत्र द्वारा दृश्य दिखाई देता है किसी नाड़ी के संयोग से कानों के द्वारा शब्द सुनाई देता है, नाड़ी के ही संयोग से गन्ध का, स्वाद का, स्पर्श का ज्ञान हो रहा है, उसी प्रकार पिंगला नाड़ी के संयोग से मनोमय जीवात्मा शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में संसार का अनुभव कर रहा है।

बाएँ स्वर में जो इड़ा नाड़ी है वह तमोगुण–प्रधान आसुरी वृत्तियों के प्रवाह का मार्ग बनाती है और दाएँ स्वर में जो पिंगला नाड़ी है वह रजोगुण–प्रधान वृत्तियों द्वारा विक्षेप का कारण बनती रहती है। सुषुम्ना नाड़ी सतोगुण–प्रधान वृत्तियों के प्रवाह का पथ है। विविध योग द्वारा तमोगुण, रजोगुण की सीमा को पार कर सतोगुणी वृत्तियों के सहारे निवृत्ति स्थिति में पहुँचना योग–सिद्धि का द्वार है।

विविध योग द्वारा कभी तो मन कहीं से हटाया जाता है और कभी यह सर्वोपरि पवित्र में लगाया जाता है। मन को कहीं से हटाने में और कहीं लगाने में बहुत संघर्ष करना होता है।

सन्त ने एक सर्वोपरि उपाय यही बताया है कि यदि धैर्य साथ दे, शान्त होने की शक्ति हो तो मन को देखते रहो–यह मन स्वतः ही शान्त हो जायेगा, निर्मल हो जायेगा।

जितनी देर हम लिखते–पढ़ते, बोलते–सुनते हैं उतनी ही देर मन प्रायः कार्य में ही लगा रहता है। इन कार्यों के अतिरिक्त जब हम हाथों–पैरों से कार्य करते हैं या बैठे–लेटे होते हैं तब मन व्यर्थ मनन चिन्तन में, भूतकाल की स्मृति में तल्लीन रहता है। अवकाश के समय देखे हुये, सुने हुये, भोगे हुये की स्मृति आती रहती है। इसी को मन का चतुर्दिक भागना मानते हैं। वास्तव में जो कुछ भोग चुके हैं या फिर आगे भोगने की लालसा रखते हैं, उसी का परिणाम मन की चंचलता है।

जो साधक मन तथा बुद्धि को मौन रखने में सफल हो जाता है, उसी के मन में भुक्त–अभुक्त स्मृतियाँ शान्त होती हैं और वर्तमान कर्तव्य की स्मृति जाग्रत रहती है–ऐसा साधक असतसंगी न रहकर सत्संगी हो जाता है।

जिस चेतना से कार्य का आरम्भ होता है और जो चेतना कार्य के अन्त में विद्यमान प्रतीत होती है, उसी में डूबना अथवा अपने को उसी परमाश्रय में देखना नित्य प्राप्त सत्संग है। इस सत्संग के लिये किसी देश काल की अथवा किसी अन्य के संग की अपेक्षा नहीं है, किन्तु पराधीनता सत्संग नहीं होने देती।

एक सन्त ने हमें बताया कि जिस सत्संग के लिये तुम इधर–उधर भाग रहे हो वह तो वहीं है जहां आप हैं, वह वहीं मिलेगा जहां आप होंगे।

शास्त्रों में लिखा है–ममता ही समस्त दुःखों का मूल है, ममतारहित होने में ही परम सुख है। निर्मम होने से वैराग्य होता है, वैराग्य से योग की प्राप्ति होती है, योग से ज्ञान होता है और ज्ञानयोग द्वारा मनुष्य मुक्त हो जाता है। वैराग्यवान साधक को ज्ञानयोग के प्रभाव से संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्ति मिलती है।

आज सहस्रों साधक अपनी संकुचित बुद्धि के अनुसार शास्त्रों के तथा गुरु के वाक्यों का अर्थ संकुचित रूप में लेकर योग साधना के यथार्थ विवेकी नहीं बन पाते। अविवेकी जन ज्ञान के अभिमानी होते हैं पर अभिमान के ज्ञानी नहीं हो पाते।

गीता प्रेस से कभी योगांक निकलता था। उसमें एक सौ तिहत्तर लेख योग विषय में निकले थे। जिस प्रकार किसी वस्त्र की दुकान में अथवा आभूषण भण्डार में विविध वस्त्रों तथा आभूषणों को देखकर उन्हें प्राप्त करने का लालच लगता है किन्तु मूल्य सुन–सुनकर मौन रह जाना पड़ता है, प्रायः अपनी पूँजी और आवश्यकता के अनुसार ही वस्त्राभूषण लेना सम्भव होता है, उसी भांति योग की सिद्धियों को पढ़–सुनकर सिद्धि चमत्कार के लोभवश योग साधनाओं को करने

लगते हैं। अपनी योग्यता शक्ति का निरीक्षण भी नहीं कर पाते। अन्त में साधना को ही निराश होकर छोड़ बैठते हैं, कभी–कभी हानि भी उठाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के मन पर संग का प्रभाव पड़ता है। संग के अनुसार ही संस्कार दृढ़ होते हैं। प्रायः संस्कार–प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता रहता है।

जिसे बार–बार दुहराया जाता है उसी का अभ्यास हो जाता है, जिसका अभ्यास होता है वही सहज हो जाता है। शरीर द्वारा जो भी कर्म बार–बार किया जाता है, इन्द्रियों द्वारा जो विषय बार–बार दुहराया जाता है, मन द्वारा बार–बार जिसका मनन किया जाता है, बुद्धि द्वारा जिस प्रकार के विचारों की अथवा जिस प्रकार के ग्रंथाध्ययन की पुनरावृत्ति की जाती है, उसी का अभ्यास हो जाता है।

प्रत्येक प्राणी में सहज रूप से कुछ करने का, किसी को अपना मानने का किसी के चिन्तन का, किसी के ध्यान का सहज अभ्यास है ही। ईश्वर के स्मरण, चिन्तन, ध्यान में अवश्य कठिनता है क्योंकि इस दिशा में अभ्यास नहीं है। इसीलिये जो साधक परमात्मा का स्मरण, चिन्तन, ध्यान करना चाहता है उसे बार–बार शुभ के अभ्यास को ही स्वीकार करना चाहिये। जिस स्मरण, चिन्तन, ध्यान में प्रथम मन नहीं लगता–अभ्यास होने पर अनायास ही मन लगा रहता है, फिर हटाये

नहीं हटता, मन लगने के पश्चात् पुनः परिणाम को देखना आवश्यक होता है।

अनुभवी योगाचार्यों की यह भी सम्मति है कि नित्य नियमित समय से अभ्यास की अवधि बढ़ाते चलो, किन्तु मन के साथ हठ न करो, उससे झगड़ा न करो, उसे हठपूर्वक कहीं से हटाने और कहीं लगाने का दुराग्रह न करो। तुम केवल शान्त रहकर मन को देखते ही रहो और जो करना है वह करते रहो।

मान लो, मन तुम्हारा एक वाहन है, वह घोड़े की भांति भागने वाला है। अब यदि तुम मनरूपी अश्व में सवार रहोगे तब तो वह जहां जायेगा, जैसे उछलेगा, जहां कूदेगा उसके साथ तुम्हारी भी वही दशा बन जायेगी। मन के ऊपर बैठकर तुम्हें भी उछलने–कूदने, दौड़ने–भागने का अनुभव करना होगा। तुम्हें प्रतिकूलता में मन से लड़ना पड़ेगा, रोकने का श्रम करना पड़ेगा। यदि तुम ऐसे चंचल मन से दुःखी हो, थक रहे हो तो उसके ऊपर से उतर जाओ और दूर रहकर उसकी चंचलता को दौड़ने–भागने को देखते रहो–केवल देखते रहो, उसे पकड़ो नहीं, कहीं लगाओं नहीं। उसे देखते ही वह रुका हुआ मिलेगा। यदि वह न रुके तो उसे जाने दो, तुम न जाओ; उसे भागने दो, तुम रुके रहो और उसे देखते रहो।

अभ्यास कई प्रकार के होते हैं– जप, पाठ, कीर्तन–संकीर्तन का अभ्यास तथा भगवान को बार–बार अपना मानने का अभ्यास,

आत्मा–अनात्मा सम्बन्धी विचार करते रहने का अभ्यास एवं हठयोग आदि का अभ्यास साधक करते हैं।

एक सन्त से मैंने सुना था कि योगाभ्यासी को सदा साधना में ही लगे रहना चाहिये, साथ ही दूसरे से कुछ लेना रूपी प्रतिग्रह से और निन्दा स्तुति रूपी अनिग्रह से बचते रहना चाजिये। जब तक योग साधना के साथ–साथ दस प्रकार की अशुद्धि में से एक भी अशुद्धि चलती रहेगी तब तक साधक पूर्ण सिद्धि नहीं पा सकेगा। इसीलिये सिद्ध सन्तों के यह दस आदेश हैं–

(1) जहां तक हो सके समझ–बूझकर शुद्ध अन्न सेवन करो।

(2) किसी से अनावश्यक कुछ भी न लेकर हाथों को शुद्ध रक्खो और इनके द्वारा शुभ कर्म करते रहो।

(3) शरीर में वीर्य शक्ति सुरक्षि रक्खो।

(4) निष्कपट शुद्ध व्यवहार से क्रिया शुद्ध रक्खो।

(5) सत्य, प्रिय, मधुर, हितकर वचनों के द्वारा वाणी को शुद्ध रक्खो।

(6) मोह ममता को छोड़कर परम प्रभु के प्रति पूर्ण अपनत्व के भाव द्वारा मन को शुद्ध रक्खो।

(7) आत्मा परमात्मा का चिन्तन करते हुए चित्त को शुद्ध रक्खो।

(8) आत्मा परमात्मा से सम्बन्धित विचारों एवं विवेक द्वारा बुद्धि को शुद्ध रक्खो।

(9) अहं में जो रख लिया है उसे अस्वीकार करके केवल चेतन स्वरूप से मिलाकर अहं को शुद्ध रक्खो।

(10) भोगों से बचाकर योग साधना के अनुकूल बनाकर देह को शुद्ध रक्खो।

गीता में भगवान ने कहा है कि अभ्यासयोग से युक्त अन्य की ओर न जाने वाले चित्त से जब परमात्मा का ही स्मरण, चिन्तन कोई साधक करता है तब उसी चिन्तनीय रूप की प्राप्ति होती है अर्थात् परम पुरुष का स्मरण चिन्तन करने वाला उन्हीं को पाता है।

(गीता 8/8)

जो साधक भगवान के रूप का ही चिन्तन ध्यान करता है, वह उसी रूप को पाता है। भगवान के दिव्य गुणों का उनके अखण्ड ज्ञान स्वरूप का ध्यान करता है वह गुणों एवं ज्ञान स्वरूप का योगानुभव करता है।

निर्गुणोपासक भक्त प्रभु को स्वयं प्राप्त करते हैं और सगुणोपासक भक्त को स्वयं प्रभु प्राप्त होते हैं।

रूप का चिन्तन साकारोपासना है। ईश्वर के दिव्य गुणों का चिन्तन सगुणोपासना है और चित्त से चिन्तन न करना निर्गुणोपासना है।

साकार सगुण का स्मरण चिन्तन करने वाले भक्तियोगी की अपेक्षा निराकार निर्गुण में मन बुद्धि को तल्लीन करने वाले ज्ञानयोगी बहुत ही दुर्लभ हैं और प्रेमयोगी तो उनसे भी विशेष दुर्लभ हैं।

साधना सिद्धि के लिए अथवा योग की पूर्णता के लिये शास्त्रों में हमारे योगाचार्यों ने सर्वप्रथम यम नियम का पालन बताया है। हम लोगों में से सैंकड़ों साधक यह भी नहीं जानते कि यम नियम कहते किसे हैं? ब्रह्म क्या है? माया क्या है? इसकी परिभाषा लोग रट लेते हैं, सोहं शिवोहं की व्याख्या घन्टों करते हैं परन्तु यम, नियम को आरम्भ की साधना मान कर उपेक्षा करते हैं।

यह गुरु आदेश है कि जो साधक क्रम से साधना का पक्षपाती हो उसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पॉच प्रकार के यम को पूर्ण करना चाहिये।

और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान—यही पॉच प्रकार के नियमों को पूर्ण करना चाहिये। कोई साधक अहंकार, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मोह के वश रह कर तन से, मन से, वाणी से किसी प्राणी को अपने सुख के लिये दुःख देता है तो हिंसक है।

जो साधक अविनाशी आत्मा परमात्मा को न जान कर विनाशी देह को, धन को ही सत्य मानता है वह सत्य का प्रेमी नहीं प्रत्युत असत्य का रागी रहता है।

जो साधक अविनाशी आत्मा परमात्मा को न जान कर विनाशी देह को, धन को ही सत्य मानता है वह सत्य का प्रेमी नहीं प्रत्युत असत्य का रागी रहता है।

जो साधक किसी वस्तु पर अपना अधिकार मान कर उस वस्तु के रचयिता को अथवा दाता को भूल जाता है और अधिक से अधिक अधिकार बढ़ाना चाहता है, जो अपने निर्वाह से अधिक संचय करता है वह चोर ही है। ऐसा व्यक्ति यम के तीसरे अंग स्तेय हो नहीं मानता।

जो साधक शरीर में वीर्य को, मन में संकल्प बल को, बुद्धि में विचार शक्ति को सुरक्षित न रखकर उसके पतन में सुख मानता है वह यम के चौथे अंग का पालन नहीं करता।

जो साधक अपनी आवश्यकता से अधिक विविध वस्तुओं का अथवा सम्पत्ति का संग्रह दूसरों से लेकर, दूसरों के अधिकार की सम्पत्ति उन्हें नहीं देकर, अपने अधिकार में संचित रखता है वह यम के पांचवें अंग अपरिग्रह का पालन नहीं करता।

जो साधक अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच प्रकार के यम की अवहेलना उपेक्षा करते हुए अन्य योग के अंगों को किसी सिद्धि के लोभवश पूर्ण करना चाहता है उसे अन्य योगों में सिद्धि नहीं मिलती उसे यमराज के दण्ड का भोगी बनना ही पड़ता है।

जो साधक पांच भौतिक शरीर को नियम पूर्वक नित्य निश्चित समय पर शुद्ध नहीं करता तथा संग दोष के कुप्रभाव से मन को नहीं बचाता वह नियम के प्रथम अंग की उपेक्षा करता है।

जो साधक प्रारब्ध से मिली हुई वस्तुओं में असन्तुष्ट रह कर सदा चिन्तातुर, खिन्न, दुःखी रहता है वह नियम के दूसरे अंग को अस्वीकार करता है।

जो साधक उत्तम व्रतों की पूर्णता के लिये प्रतिकूलताओं को सहन नहीं कर पाता, जो भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, अपमान या अकस्मात् आने वाले कष्टों को नहीं सह पाता वह नियम के तीसरे अंग तप का विरोध करता है।

जो साधक अपने कर्त्तव्य (स्वधर्म) को, सत्य–असत्य को, पाप–पुण्य को जानने के लिये अपने धर्म–ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा अपना अध्ययन अर्थात 'स्वयं' का निरीक्षण नहीं करता वह नियम के चौथे अंग स्वाध्याय का पालन नहीं करता। इसी प्रकार जो साधक परमेश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए परमेश्वर का स्मरण नहीं करता वह नियम के पाँचवे अंग को नहीं मानता।

जो अपने जीवन के उत्थान के लिये नित्य पालन करने वाले नियम के पांचवे अंग को नहीं मानता उसकी साधना की सिद्धि जिस नियम से मिलनी चाहिये वह नियम भी सहायक नहीं होता।

अष्टांग योग में यम–नियम का पालन प्रथम ही आवश्यक है। तत्पश्चात आसन का अभ्यास सार्थक होता है। आसन के अभ्यास से देह के ऊपर अधिकार हो जाता है। देह साधना के योग से सुदृढ़ हो जाती है, रोगों का हठात् आक्रमण नहीं होता।

शरीर पर आसनों का प्रभाव

सोलह वर्ष से जो युवक शारीरिक व्यायाम और आसन का अभ्यास बढ़ा लेगा, नित्य नियमपूर्वक दस–पन्द्रह मिनट जो उदर शुद्धि के लिये स्नायु शुद्धि के लिये आसन करता रहेगा उसे उदर तथा हृदय सम्बन्धित रोग नहीं होने चाहियें।

दण्ड, बैठक, मुद्गर आदि व्यायाम का प्रभाव शरीर के कुछ स्थानों में ही विशेष पड़ता है, किन्तु आसनों का प्रभाव शरीर के आन्तरिक स्नायु पर होता है।

इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि दण्ड, बैठक और आसन एक साथ तत्काल नहीं करना चाहिये, बीच में पौन घण्टे का अन्तर अवश्य रहना चाहिये।

प्रत्येक आसन श्वास भर कर ही किया जाता है परन्तु मयूर आसन तथा गांठों में सर लगाना, पैर समेटने वाले आसन में वायु निकाल कर किया जाता है। जिसमें पेट दबे उस आसन के साथ वायु पेट में पूरी नहीं भरी रहनी चाहिये।

आसन एकान्त में ही करना चाहिये। स्त्रियों के सामने नहीं करना चाहिये। पेट भरा हो, ज्वर हो तब भी आसन नहीं करना चाहिये।

कुछ लोग आसन के फल पढ़कर, आसन के चित्र देखकर आसन करने में ही अधिक समय शक्ति का अपव्यय करते हैं। कुछ नट लोग आसनों को दिखाकर पैसे मांगते फिरते हैं, उनकी देह तो लचीली नरम हो जाती है पर मन कठोर ही बना रहता है। हमारे योगाचार्य, योगाभ्यासी के लिये अभ्यास द्वारा आसन में स्थिर होने की सम्मति देते हैं। आसन से शारीरिक रजोगुण शान्त होता है, शरीर रोगरहित होता है, साथ ही हल्का होता जाता है। जो आसन करना जानते हैं उन्हीं के सामने आसन करके समझ लेना आवश्यक है।

सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन या सिंहासन साधनाभ्यास में सहायक हैं। पश्चिमोत्तासन, एक पाद द्विपादोत्थानासन, भुजंगासन, धनुरासन, जानुसिरासन, बकासन आदि पेट की, कमर की शुद्धि के लिये आवश्यक हैं।

जो शरीर से श्रम नहीं करते, ऐसे बाबू रईस लोगों को ही आयु बढ़ने पर चालीस वर्ष के बाद पेट के या दिल–दिमाग के रोग घेर लेते हैं। सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन का अभ्यास उन्हें अधिक करना चाहिये।

आसनों द्वारा उपचार

लोलासन, नौकासन के द्वारा हिचकी, डकार, नाभि का हटना तथा वायुरोग की निवृत्ति होती है।

विपरीत करणी से सिर नीचे पैर ऊपर करके पद्मासन लगाकर रुकने से हकलाहट, तुतलाहट तथा बाल झड़ने की बीमारी, गंजापन एवं प्रदर रोग की निवृत्ति होती है। एक पाद सलभासन से बवासीर, पैरों का, तलवों का दर्द, आँत उतरने का अथवा अन्यपुच्छ शूल का दर्द दूर होता है। द्विपाद सलभासन करने से जलोदर, पैरों की सूजन, मधुमेह, प्रमेह तथा गुल्मरोग की निवृत्ति होती है। बकासन से प्यूरिसी रोग दूर होता है।

चित्त लेटकर और पेट के बल लेटकर जितने आसन किये जाते हैं उनसे कमर, पीठ, छाती, गले के अनेकं रोग दूर होते हैं।

कभी–कभी शीर्षासन के फल पढ़कर कुछ लोग शीर्षासन अधिक करने लगते हैं। इससे लाभ के स्थान पर किसी–किसी की आँखों में रोग उतर आता है। जिसने आसनों से स्वयं लाभ पाया हो उसी से समझकर आसन करना चाहिये।

आसन स्थिर होने पर प्राणायाम आवश्यक है। योगाचार्यों का कहना है कि यम नियम आसन सिद्ध हुए बिना प्राणायाम योग सिद्धि का साधन न होकर भोग सिद्धि का ही साधन बनता है।

वैसे तो दस प्रकार के प्राणायाम प्रचलित हैं, किन्तु समाधि के अभिलाषी को सभी प्राणायामों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सर्वप्रथम नाड़ी शुद्धि प्राणायाम अधिक आवश्यक सिद्ध हुआ। प्राणायाम से शरीर, वाणी, मन स्ववश होते हैं।

सिद्धासन या पद्मासन या फिर सहजासन में साधक पैर के ऊपर अर्थात् एक पंजे के ऊपर दूसरा पंजा रखकर पीठ की रीड़ को सीधा रखकर बैठ जाये। प्रत्येक आसन में पीठ की रीढ़ की कमर सीधी रखना आवश्यक है। गर्दन भी सीधी ही रहनी चाहिये। पुनः बाएं स्वर से धीरे–धीरे श्वास भर ली जाये, जब पूरा पेट वायु से फूल जाये और बाद में छाती फूल जाये तब श्वास न रोक करके तत्काल ही दाहिने स्वर से धीरे–धीरे ही निकाल दें ओर पूरी श्वास न रोक करके तत्काल ही दाहिने स्वर से वायु भरकर बाएं स्वर से निकाल दें, फिर बायें स्वर से भरकर दाहिने स्वर से निकालें, यही नाड़ी शुद्धि के लिये प्राणायाम है।

आरम्भ में तीन मिनट नाड़ी शुद्धि प्राणायाम करें, पांच दिन बाद पांच मिनट करने लगें, आठ दिन बाद सात मिनट, क्रमशः दस मिनट तक नित्य तीन महीने करने से चन्द्र नाड़ी सूर्य नाड़ी शुद्ध हो जाती है।

नाड़ी शुद्धि प्राणायाम के साथ ही फिर कुम्भक करना चाहिये। श्वास को भीतर रोकना और श्वास निकाल कर बाहर ही रोके रखना

इसे ही अभ्यन्तर और वाह्य कुम्भक कहते हैं। कुम्भक के साथ गुदा द्वार को ऊपर की ओर संकुंचित किये रहना यह मूलबन्ध आवश्यक है।

मूलबन्ध के साथ छाती और चिबुक को कस कर भिड़ाये रहना यह जालन्धर बन्ध आवश्यक है और जब श्वास छोड़ी जाये तब पेट खाली होने पर पीठ से पेट मिलाना उड़ियान बन्ध आवश्यक है। इसीलिये तीन बन्धयुक्त कुम्भक प्राणायाम किसी अनुभवी व्यक्ति के सामने ही समझ लेना आवश्यक होता है।

ध्यानाभ्यासी अधिक प्राणायामों की सिद्धि के फेर में न पड़कर केवल नाड़ी शुद्धि का अभ्यास बढ़ाकर केवल रेचक पूरक ही धीरे–धीरे करता रहे और मन को देखता रहे। साथ में नाम जप या छोटा मन्त्र जाप, या ओउम् जप अथवा ओमानन्दम् अथवा आनन्दमय का ही चिन्तन करता रहे।

मन्त्रजप या नाम के सहारे रजोगुणी वृत्तियों का वेग मर्यादित होता जाता है। मन की वृत्तियों पर कुछ अधिकार होने पर नाड़ी शुद्धि प्राणायाम अर्थात् अनुलोम–विलोम प्राणायाम द्वारा रेचक पूरक की अवधि लम्बी हो जाती है। स्वाभाविक श्वास यदि एक मिनट में 15 बार ली जाती है तो पूर्ण रेचक पूर्ण पूरक धीरे–धीरे करने पर एक मिनट में दो बार ही श्वास ली जाती है।

श्वास के आने–जाने पर मन लगा देने से मन एकाग्र होता है। साथ ही कुम्भक प्राणायाम सुगम और स्थायी होने लगता है।

ऊष्ण प्राणायाम

जब शरीर में गर्मी बढ़ाना हो सर्दी घटाना हो तो दाहिने स्वर से श्वास पूरी भर कर बायें स्वर से श्वास धीरे–धीरे निकालो। आठ की गिनती में यदि श्वास भरो तो 16 की गिनती तक श्वास रोके रहो, पुनः आठ की गिनती तक बाहर श्वास छोड़ दो।

ठण्डा प्राणायाम

यदि शरीर का ताप घटाना हो तो बाएँ स्वर से श्वास भर कर यथाशक्ति मात्रा में रोक कर दाहिने स्वर से श्वास छोड़ना चाहिये।

दाहिने स्वर से श्वास भीतर जाते ही गरम हो जाती है, ऊष्णता बढ़ाती है। बायें स्वर से श्वास भीतर जाते ही शीतल हो जाती है इसीलिये दाहिने स्वर को सूर्य स्वर और बायें स्वर को चन्द्र स्वर कहते हैं।

कोई भी रोग, कष्ट, दर्द देह में आरम्भ होते ही जो स्वर–विशेष खुला हो उसे रुई को महीन कपड़े में सीकर गोली बना कर उसी गोली द्वारा बन्द कर दें। दिन भर बन्द रक्खें तो वह रोग कष्ट शीघ्र दूर हो जाता है।

रात को दाहिना स्वर चलाने से बायां स्वर बन्द रखने से और दिन को बायां स्वर चलाने व दायां स्वर बन्द रखने से एक मास में ही शरीर की अद्‌भुत ढंग से शुद्धि हो जाती है।

शीतली प्राणायाम

दांतों को दाबे हुए जीभ के सहारे होठों को सिकोड़ कर वायु खींचो। धीरे–धीरे पूरी श्वास भर कर फिर धीरे–धीरे नाक के स्वरों से निकाल दो। इस प्राणायाम से शरीर में शीतलता आती है, रक्त की गरमी शान्त होती है। जाड़े के दिनों में यह प्राणायाम नहीं करना चाहिये, गरमी में ही करना चाहिये।

जीभ को बाहर निकाल कर चोंच की तरह सिकोड़ कर हवा पेट में भरो और नासिका द्वारा निकाल दो–यह प्राणायाम शीतल है, गर्मी के दिनों में ही करना चाहिये।

भस्त्रिका प्राणायाम

बाएँ स्वर से दस बार श्वास भर कर दायें स्वर को निकालो, ग्यारहवीं बार भर कर कुम्भक करो, रोके रहो फिर बाएं स्वर से निकाल कर दस बार उसी बाएं स्वर से श्वास भर कर दाएं स्वर से निकालते रहो। पुनः दाएं स्वर से भरकर कुम्भक करो, बाएं स्वर से रेचक करो, यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार अभ्यास हो जाने पर कई प्राणायाम कर सकते हो। यह प्राणायाम न गरम है न ठण्डा है, समशीतोष्ण है, इसे सभी ऋतुओं में किया जाता है। कुम्भक की मात्रा

बढ़ाने में यह भस्रिका प्राणायाम बहुत उत्तम है। यह दो तीन प्रकार से किया जाता है; यह अभ्यासीजनों से पूछ कर करना चाहिये। भस्रिका प्राणायाम से शुगर की बीमारी दूर होती है। धोंकनी की तरह श्वास भरते–छोड़ते रहने से फेफड़ों में शकर नहीं पचती वह जल जाती है।

भस्रिका और सूर्य–भेदी प्राणायाम से जुकाम शीघ्र ठीक होता है। सर्दी की कोई बीमारी नहीं होती।

शीतल शीत्कारी प्राणायाम से पित्त की गरमी, देह का ताप शान्त होता है। शीतली शीत्कारी प्राणायाम शीतकाल में वर्जित है।

प्राणों के व्यायाम की उसी प्रकार आवश्यकता रहती है जिस प्रकार गद्दी पर बैठे रहने वाले व्यापारी को शारीरिक व्यायाम की होती है। जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम से शरीर पुष्ट रहता है उसी प्रकार प्राणायाम से प्राणमय कोष में विकार संचित नहीं हो पाते। जो साधक एकान्त में साधना करते हैं उनके प्राण की गति मन्द पड़ जाती है, इसीलिये कुछ काल बाद रोगी बन जाते हैं।

एकान्तसेवी साधक को गहरे श्वास लेते रहने का अभ्यास नहीं भूलना चाहिये।

सुसंग और सुसंस्कार के प्रभावानुसार बुद्धिमान–श्रद्धालु मनुष्य में कभी विविध सिद्धियों की अथवा दैवीय–शक्तियों की या फिर मुक्ति शान्ति भक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। इसी की प्राप्ति के लिये मनुष्य बड़ी आतुरता के साथ साधना करना चाहता है और

शीघ्रता से जो कुछ भी साधन भजन के विषय में सुन लेता है, पढ़ लेता है, मान लेता है उसी प्रकार करने लगता है। कुछ साधक कीर्तन योग, कोई जप योग, कोई प्राणायाम योग, कोई ज्ञान योग, कोई ध्यान योग, कोई समाधि योग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करने लगते हैं। इस प्रकार साधक प्रायः साधना के क्रम को नहीं पकड़ते हैं और शीघ्र से शीघ्र सिद्धि चमत्कार, दर्शन या समाधि चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि महीनों, वर्षों कुछ न कुछ करते हुए जब सिद्धि नहीं देखते तब निराश हो जाते हैं या फिर किसी आंशिक सफलता के भोगी बन कर रुक जाते हैं।

जिस साधना से मन मूर्छित हो जाए या चेतना जड़ता से ढक जाए वह साधना विवेकपूर्वक नहीं है।

जिस साधना से चेतना जाग्रत हो, मन की मान्यताओं, कल्पनाओं, स्वीकृतियो, सुनी हुई धारणाओं, विचारों, अहंकृतियों और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की सीमाओं को देखा जा सके वही साधना सर्वोत्तम है।

एक सन्त कह रहे थे कि स्मृति, कल्पना एवं धारणा द्वारा कुछ भुलाया तो जा सकता है परन्तु सत्य को नहीं पाया जा सकता है। जब विचार शान्त हो जाते हैं तब कल्पना से शून्य स्थिति में परमात्मा की अनुभूति होती है।

स्मृतियों से, विचारों से, कल्पनाओं से, धारणाओं से मुक्ति पाना ही मन से मुक्ति पाना है।

शुभ सुन्दर पवित्र का स्मरण तथा शुभ सुन्दर पवित्र से सम्बन्धित विचार, सत्य परमेश्वर से सम्बन्धित कल्पनायें साधक को जड़ता से चेतना की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, अनित्य से नित्य परमात्मा की ओर, स्वार्थ से सेवा की ओर मोड़ने में सहायक होती है। इसीलिये साधक इन्हें अपनाता है परन्तु यदि लक्ष्य पर दृष्टि न हो, 'स्व' का ज्ञान न हो तो अहंकार भोग की सीमा में रुक कर सन्तोष कर बैठता है किन्तु सिद्धि नहीं पाता है।

जब तक कोई देहादिक वस्तु का आश्रय ले रहा है तब तक पराधीन है। अतः 'पर' का और 'स्व' का ज्ञान होना आवश्यक है।

कोई साधक हरिनाम कीर्तन में भाव–विभोर हो जाते हैं, कोई साधक पूजा करते समय मग्न रहते हैं, कुछ साधक अखण्ड पाठ नवाह्न पाठ में अपने को कृतकृत्य मानते हैं। कोई ऐसे साधक हैं जो विचार में तैरते या डूबे से रहते हैं, कोई अपनी विरक्ति में तथा त्याग वृत्ति में मस्त रहते हैं। परन्तु मुझसे एक अनुभवी महात्मा कह रहे थे कि इस प्रकार के जितने भी प्रचलित परापेक्षी साधन हैं और उन साधनों का जो मन पर प्रभाव पड़ता है वह एक नशे की भांति है जो चढ़ता–उतरता रहता है। एक रस समत्व के आनन्द की अनुभूति ही अपेक्षित है। प्रचलित साधनों से साधक मन को प्रायः सन्तुष्ट कर

लेता है परन्तु साध्य को नहीं जान पाता। वास्तव में स्वयं ही सत्य के अति निकट है, इसीलिए ही सत्य अनुभूति का साधन स्वयं अपना आप ही है। विविध योग साधन द्वारा स्वयं में सत्य को देखना है।

सत्य वचन

निकट सत्य दूर रहना और दूर प्रतीत होने वाले असत्य के पीछे जन्मान्तरों से दौड़ते रहना ही प्रमाद है। इसी प्रमादवश जो हमारे अति निकट है, जिसे पाने के लिये किसी देश काल की ओर नहीं देखना है, उसे ही हम नहीं प्राप्त कर पाते हैं।

अहं मिटे बिना भगवान में भक्ति नहीं होती। सब कुछ से विमुख होने पर साधन तीव्र होता है। कामनारहित होने पर कोई–कोई समर्पण कर सकता है, अनुकूलता ने ही भगवान से विमुख कर रक्खा है।

कोई भी भगवान का होकर भक्त हो सकता है। भक्त होकर ही कोई भगवान को उनकी कृपा से जान सकता है। परम प्रभु कृपा से ही मिलते हैं, कुछ करने से नहीं।

प्रेरणा

मानव सोचो जग के सुख का, विस्तार रहेगा कितने दिन।
सत्कार रहेगा कितने दिन, यह प्यार रहेगा कितने दिन।।

चाहे पितु हो या माता हो, पत्नी हो सुत या भ्राता हो।

जिसको अपना कहते उस पर, अधिकार रहेगा कितने दिन।।

कोई आता कोई जाता, सबसे थोड़े दिन का नाता।
जिसका भी आश्रय लेते, वह आधार रहेगा कितने दिन।।

जो जग में सच्चे ज्ञानी हैं, परमात्म–तत्व के ध्यानी हैं।
उनसे पूछो मन का माना, संसार रहेगा कितने दिन।।

तुम प्रेम करो अविनाशी से, मिल जाओ सब उरवासी से।
ऐ पथिक यहां 'मैं मेरा' का, व्यापार रहेगा कितने दिन।।

****

हम तुम क्या? कितने महारथी, इस जग में आकर चले गए।
निज कर्मों से ही नर्क, स्वर्ग की राह बनाकर चले गए।।

हम सबको भी चलना ही है, चलने की तैयारी कर लो।
जो पहले से तैयार न थे पछता पछता कर चले गए।।

जब यहीं सभी कुछ छुट जाता सबकी ममता का त्याग करो।
मूरख तो 'मैं मेरी' कह के मद–मान बढ़ा कर चले गये।।

हम सब को यही देखना है कुछ अशुभ न हो शुभ ही शुभ हो।
लाखों अविवेकी शक्ति समय को व्यर्थ गंवाकर चले गए।।

अब अपना कुछ न मान करके, सब कुछ परमेश्वर का जानो।
वह पथिक धन्य जो भक्ति मुक्ति का सत्पथ पाकर चले गये।।

****

जग में सत्संग बिना मानव सन्मति गति पाना क्या जानें।
आसुरी प्रकृति के जो प्राणी सत्संग में आना क्या जाने।।

जीवन में जितने दुःख दिखते वह निज दोषों के कारण ही।
पर जिसमें इतना ज्ञान न हो वह दोष मिटाना क्या जानें।।

उन्नति का साधन सेवा है इससे ही आत्म–शुद्धि होती।
पर लोभी, अभिमानी, कामी सेवा को निभाना क्या जाने।।

गांजा, अफीम या भंग, चरस, सिगरेट, शराब पीने वाले।
व्यसनों को छोड़ न पाते जो मन वश में लाना क्या जानें।।

जो स्वयं ईर्ष्या, काम, क्रोध की अग्नि लिये फिरते हों उर में।
जब अपनी लगी बुझा न सके वह पर की बुझाना क्या जानें।।

आलसी, विलासी, धम विमुख, इन्द्रिय सुख लोलुप, अज्ञानी।
जब बिगड़े आप ही, दूसरों की बिगड़ी को बनाना क्या जाने।।

जो तन को मल–मल धोते हैं भीतर मन जिनका काला है।
वह मोही गोरेपन के मन का मैल छुटाना क्या जानें।।

वह साधक भी धोखे में हैं करते प्रपंच का जो चिन्तन।
यदि प्रेम नहीं तब प्रियतम प्रभु में ध्यान लगाना क्या जानें।।

जो पहुँचे हुए सन्त जन हैं, उनसे पूछो पथ की बातें।
जो बारह बाट भटकते हैं, वह लक्ष्य दिखाना क्या जानें।।
दुःख में जो त्यागी हो न सके, बन सके न सुख में जो उदार।
वह 'पथिक' प्रेममय प्रियतम से तन्मय हो जाना क्या जानें।।

सन्त वचन––बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है। देहाभिमानी संसार का दास होता है। सत्य से

भिन्नता, असत्य से अभिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान बढ़ता है, विवेक से अभिमान की निवृत्ति होती है।

सत्संग योग

जो सदा है, सर्वत्र है, अभी है, यहीं है, जिसमें हम हैं, जो अपने से कभी भिन्न होता ही नहीं है, **जो सनातन है वही सत्य है।**

अज्ञान, भूल और भ्रान्ति ही जीवन में सबसे बड़ा त्रिदोष रोग है। सद्गुरु ही इस रोग के निवारण करने वाले वैद्य हैं। बुद्धि, दृष्टि की साधना इस रोग की औषधि है। निरन्तर स्मृति रखना, व्यवहार में ध्यान रखना ही पथ्य है।

विविध योग में सर्वप्रथम सत्संग आवश्यक है। जैसा संग होता है वैसी ही चर्चा चलती है, जिसकी चर्चा होती है उसी से सम्बन्ध होता है, जिससे सम्बन्ध होता है उसी से प्रीति होती है, जिससे प्रीति होती है उसी का चिन्तन ध्यान किये बिना ही होता रहता है।

असत् चर्चा असत् जगत् से सम्बन्धित बनाती है। असत् चर्चा से अरुचि होने पर ही सत् चर्चा में प्रीति बढ़ती है। असत् चर्चा से राग द्वेष की वृद्धि होती है। सत् चर्चा से त्याग प्रेम की भावना सबल होती जाती है।

सुने हुए का प्रभाव पड़ता है। इसलिये असत् चर्चा न सुन कर जब अवसर मिले तभी सत् चर्चा सुननी चाहिये, पढ़नी चाहिये। सत् चर्चा सुनने का प्रभाव यही है कि असत् से ममता न रहे।

असत् की ममता से रहित होकर कोई सत् का प्रेमी होता है और सत् का प्रेमी होने पर मिली हुई अनित्य तथा प्रतीत होने वाली असत् वस्तुओं का सदुपयोग करता है। वह सत्य का प्रेमी फिर भोग में आबद्ध नहीं होता।

सन्त ने हमें समझाया कि संसार में जो प्रतीत होता है परन्तु प्राप्त नहीं होता है, वही असत् है। जो नित्य ही प्राप्त है पर इन्द्रियों द्वारा प्रतीत नहीं होता वही सत् है।

किसी भी ग्रन्थ के द्वारा जहां कहीं आत्मा–परमात्मा की व्याख्या है, जहां कहीं दैवी गुणों का वर्णन है, जहां कहीं भक्त तथा भगवान की कथा, लीला, धाम का वर्णन है वह सब सत् चर्चा ही समझना चाहिये।

संसार में जो कुछ असत् है, अनित्य है, क्षणभंगुर है, मिथ्या है उसका मोह मिटाने के लिये सत्य में ही अर्थात् परमात्मा में ही प्रीतियुक्त होने के लिये सत् चर्चा सुनाना, सत् चर्चा सुनना सर्वप्रथम आवश्यक है।

सत् चर्चा को ही कुछ लोग सत्संग समझते हैं परन्तु सत्संग का अर्थ कुछ और ही है।

जिन जैसा सत्संग किया, तिन तैसा गुण लीन।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बूंद गुण तीन।।

नीच निचाई नहिं तजै, जो पावहि सत्संग।

तुलसी चंदन विटप बसि, विष नहिं तजत भुजंग।।

बिनु सत्संग न हरि कथा, तिहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होय न दृढ़ अनुराग।।

सुनो घर को पाहुनो, ज्यों आवे त्यों जाय।

ज्यों आवे त्यों जाय, धर्म बिन धिक नर देही।
झूठ कुटुम्ब संग्रहैं, तजैं सब श्याम सनेही।

परमारथ सो पीठ, दीठ स्वारथ में दीन्हीं।
जन्म लाभ नहिं लह्यो, राम की भक्ति न कीन्हीं।
अग्र कहे सत्संग बिन, कछू लाभ नहिं आय।

सूनो घर को पाहुनो, ज्यों आवें त्यों जाए।

''जिहि विधि बीती बहुत गई, रही तनिक सी आय।
मत कबहुँ सत्संग बिन, अब यह आयु बिहाय।।''

एक सन्त ने बताया कि–

सत्य सर्वत्र विद्यमान है, असत् की इच्छाओं के कारण उसका बोध नहीं होता।

- असत् के प्रति राग ही सत्यानुरागी नहीं होने देता।
- असत् से असंग होने पर इच्छायें मिट जाती हैं।
- इच्छाओं के न रहने पर असत् का बन्धन नहीं रहता।
- असत् का संग न रहने पर इच्छायें नहीं रहती।
- असत् वही है जिससे इच्छाओं की उत्पत्ति होती है।

- सत् वही है जिससे असत् प्रकाशित होता है।

ज्यों–ज्यों असत् से छुटकारा होता जाता है त्यों–त्यों सत् से अभिन्नता होती जाती है।

वस्तुओं, व्यक्तियों के प्रति लोभ–मोह न रहने पर ही सत्संग हो सकता है। सन्त ने यह भी समझाया कि–एकान्त और मौन ही सत्संग का साधन है।

अनेकता का अन्त होने पर ही सच्चा एकान्त मिलता है।

मन का मौन होना ही वास्तविक मौन है जो सत्संग की भूमिका है।

सत्संग का अर्थ केवल गुरुजनों, महापुरुषों का व्याख्यान सुनना या कथ सुनना नहीं है, जहाँ तक सत्य परमात्मा के विषय में श्रवण किया जाता है यह तो सत् चर्चा श्रवण है।

सत्संग तो श्रवण के पश्चात् मनन करते हुए सत्य में बुद्धि स्थिर हो जाने पर होता है।

विरक्त महापुरुषों के प्रवचन, कथा, व्याख्यान का श्रवण तथा धर्म–ग्रन्थों का अध्ययन एवं विद्वानों–विरक्तों के साथ विचार–विमर्श सत्संग में सहायक साधन है।

असत्संग में ही समस्त बन्धन हैं, दुःख हैं और सत्संग में ही बन्धन दुःखों से मुक्ति है, अखण्ड आनन्द है।

सत्संग के लिये स्वाध्याय आवश्यक है, अपना निरीक्षण करना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय से स्वयं का ज्ञान होता है।

स्वाध्याय के बिना आत्मा–अनात्मा का विवेक नहीं होता।

अपने दोषों को देखना और उन्हें मिटाना सत्संग की तैयारी है। एक सन्त कहते थे कि–जो निरन्तर है उसी का संग सत्संग है।

असत् को अपना मानकर रागी होना ही असत् संग है। असत् को अपना न मानकर रागरहित होना ही सत्संग का द्वार पाना है।

जो सत् नित्य प्राप्त है, उससे दूरी नहीं है, भेद नहीं है।

अज्ञानवश उसी का संग नहीं कर पाते जो सत् है और जो असत् है उसी का त्याग नहीं कर पाते।

अप्राप्त असत् का चिन्तन ही प्राप्त में प्रीति नहीं होने देता।

शरीर का भोजन न मिलने से केवल शरीर ही नष्ट होता है पर सत्संग न मिलने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

यह जीवन सत्संग के लिये मिला है और सभी कुछ तो दूसरी योनियों में भी मिल जाता है। सत्संग सर्वत्र सुलभ है, अभी हो सकता है।

असत् को असत् जान लेना असत् से सम्बन्ध विच्छेद की तैयारी कर लेना है। सन्त ने यह भी बताया कि असत् को अपना न मानने से असत् के प्रति मोह नहीं रहता। सत् को अभिन्न जान लेने पर सत् से प्रेम हो जाता है।

सत् वही है जो असत् को अनित्य को प्रकाशित करता है, मिटाता नहीं, सत् की सत्ता से ही सब कुछ होता है, उसी में रहता है और उसी सत् में विलीन होता है।

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर प्रकृति तत्वों से बना है।

शरीरों को अपना रूप मानते रहना असत् संग है, चैतन्यस्वरूप आत्मा में बुद्धि का स्थिर करना सत्संग है।

यह जो अहंवृत्ति है, इसी को असत् संग से हटाकर सत् आत्मा–परमात्मा में लगाना सत्संग करना है।

मनोमय अहं को ही असत् का बन्धन है, अहं की ही मुक्ति होनी है, बुद्धि तत्व और चेतन आत्मा के योग से अहं का स्फुरण होता है– यह अहंकार ही सत्य से विमुख होकर संसार प्रपंच का संगी बनता है और यही संसार प्रपंच से विमुख होकर सत्य आत्मा का संगी होता है।

देखना यही है कि वास्तव में हम लोग सत् के प्रेमी हैं या असत् के? क्योंकि जो जिसका प्रेमी होता है उसका त्याग नहीं कर पाता बल्कि अपने प्रेमपात्र के लिये अन्य सब कुछ का त्याग कर देता है।

यदि हम विषय चिन्तन नहीं छोड़ पाते और भगवद् स्मरण छोड़ देते हैं, यदि हम झूठ बोलना नहीं छोड़ पाते बल्कि सत्य बोलना छोड़ देते हैं, कठोरता नहीं छोड़ पाते और सर्वहितकारी सेवा छोड़ देते हैं, तब हम सत्य के प्रेमी कदापि नहीं हैं बल्कि असत् को ही चाहते हैं क्योंकि उसे ही नहीं छोड़ पाते।

कोई व्यक्ति सुन्दर वस्त्र चाहे, आभूषण चाहे, भव्य भवन चाहे और अपने पास सम्पत्ति होते हुए वह चाही वस्तु का मूल्य न दे सके तो निश्चित है कि वह किसी प्रिय वस्तु को नहीं चाहता वरन् उस धन को ही चाहता है जिसको छोड़ नहीं पाता। जो व्यक्ति वस्त्राभूषण अथवा सुन्दर भवन चाहता है वह अपने पास रहने वाले धन द्वारा मूल्य चुका कर चाही हुई सभी वस्तुएं प्राप्त कर लेता है।

एक व्यक्ति संत की संगति में आने की इच्छा रखता था, परन्तु एक मित्र के आग्रह से सिनेमा चला गया और दूसरा व्यक्ति सिनेमा जाना चाहता था पर मित्र के आग्रह से सन्त की संगति में आ गया, इससे यही सिद्ध हुआ कि जो जिसे चाहता था उसका त्याग न कर सका।

सच्ची चाह उसे ही कहते हैं जो अपनी पूर्ति के बिना कहीं भी चैन नहीं लेने देती।

जिससे प्रबल प्रीति होती है उसके लिये जो कुछ भी करना होता है, जो कुछ छोड़ना होता है वह सब सुगम–सरल दीखता है।

जब सन्त से प्रबल प्रीति होती है तभी असत् का त्याग, शुभ–सुन्दर का दान, कठिन तप आदि सब कुछ सरल हो जाता है।

बुद्धि दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि हम साधारण प्राणी असत् अनित्य वस्तुओं एवं सुखों के लिये कितना कठिन श्रम करते हैं, इतना ही नहीं बल्कि न करने योग्य कर्म भी सुखोपभोग के लोभवश कर डालते हैं क्योंकि हम उसे ही चाहते हैं। ऐसी मनःस्थिति में हम सबको स्मरण रखना चाहिये कि हमारा सारा प्रयत्न पुरुषार्थ से तथा भूल, भ्रान्ति और अज्ञान से ढका हुआ है। हमें जब से होश हो तभी से जोश के साथ जिस प्रकार भूल, भ्रान्ति और अज्ञान की निवृत्ति हो वहीं प्रयत्न करना चाहिये। गुरु–ज्ञान का आश्रय लेकर हम इसी पर विचार करते आ रहे हैं।

हम सब को अपने हित के लिये, दुःख निवृत्ति के लिये सदा सावधान रहना है। पूर्ण सावधानी तभी कहीं जायेगी जब हमारी सारी प्रवृत्ति में कार्य कुशलता हो, भाव की पवित्रता हो और सदा लक्ष्य पर दृष्टि हो।

हमें यह गुरुमन्त्र नहीं भूलना है:—हम जो कुछ करेंगे सेवा—भाव से ही करेंगे, किसी को मानना ही है तो भगवान को ही अपना मानेंगे और कुछ जानना ही है तो अपने ही को जानेंगे।

हमको आपको परमात्मा से विमुख करने वाली वे इच्छायें हैं जिन्हें हम और आप पूरी नहीं कर सके या जिन्हें त्याग नहीं सके।

योग चाहने वाले को योग की सिद्धि यदि नहीं मिलती, भक्ति चाहने वाले को भगवद्भक्ति यदि नहीं मिलती और मुक्ति चाहने वाले को मुक्ति यदि नहीं मिलती तो एकमात्र इच्छाओं को न छोड़ सकने के कारण नहीं मिलती।

भोगेच्छाओं के त्याग से भक्ति, मुक्ति, सिद्धि और शान्ति साधक को अवश्य मिल जाती है।

जहाँ असत् सुखोपभोग की चाह नहीं रह जाती वहाँ सत् से या भगवान से दूरी भी नहीं रह जाती—यह सन्त की अनुभूति है।

हम परमार्थीजनों की बुद्धिमानी इसी सत्य को मान लेने में है कि जो इच्छायें प्रारब्ध योग से स्वतः पूरी हो रही हैं उन्हें पूर्ण होने दें और जो इच्छायें पूरी नहीं हो रही हैं, जिनकी पूर्ति किसी अन्य की दया पर निर्भर है उन इच्छाओं का त्याग कर दें। ऐसा करने से उसी समय शान्ति मिल जायगी, दुःख दूर हो जायेगा।

जो कुछ नहीं चाहता उसे कोई दुःख नहीं दे सकता। हमको आपको सदा सावधान रह कर असत् के लोभ का, मोह का, अभिमान का त्याग करना है।

हमें अभिमानरहित होकर ऐसा बड़ा बनना है कि हमारे संग से अनेक छोटे लोग बड़े बनते जायें–ऐसा तभी सम्भव होगा जब हम में त्याग का, दान का, प्रेम का बल पूर्ण होगा।

कोई भी मानव अपने से छोटों को बड़ा बनाकर ही बड़ा बनता है और अपने अधीन जनों के प्रति दया–प्रेम का व्यवहार रखते हुए जीवन में दिव्यता प्राप्त कर सकता है।

सेवा से, तप से, दान से जीवन में पवित्रता आती है।

त्याग और प्रेम से जीवन में दिव्यता आती है।

मानव समाज में बहुत कम धनी तथा अधिकारी सज्जन मिलेंगे जो बुद्धि की आँख खोल कर चलते हों।

धन, वैभव, अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों का अभिमान एवं कठोरतापूर्ण व्यवहार ही सिद्ध करता है कि यह लोग आँख बन्द किये हुए जीवन–यात्रा कर रहे हैं। वे कहाँ जा रहे हैं इसका स्वयं उन्हें ही ज्ञान नहीं है।

सत्संगी संत की संगति में आकर या दुःख की कृपा से भले ही किसी धनी–अधिकारी की आँख खुल जाये वैसे तो लोभ तथा मोह

एवं अभिमान के कारण कोई मानव देखता ही नहीं, सुनता भी नहीं; जो सुनता है वह वैसा ही करता है।

बुद्धिमान व्यक्ति वियोग के दुःख से, हानि के दुःख से, अपमान के दुःख से, मृत्यु के दुःख से मुक्त होने के लिये असत्संग का त्याग करते हैं और सत्संग के द्वारा सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

प्रायः निर्धन या धनी, दुर्बल या बलवान, बालक या वृद्ध सभी व्यक्ति कहीं न कहीं दुःखी तो होते ही हैं। परन्तु कोई विरले ही दुःख की निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं। चाहते तो सभी हैं कि जीव में दुःख कभी न आये, सदा सुख ही बना रहे। प्रयत्न द्वारा सुख–दुःख को दबाते रहते हैं, पर मिटा नहीं पाते।

जो दुःख दबाया जाता है वह अपने बिना चाहे कभी न कभी उभड़ता है, जब दुःख मिटा दिया जाता है तब कभी नहीं आता है इच्छाओं की पूर्ति से दुःख दब जाता है पर मिटता नहीं।

जो परमेश्वर की सृष्टि से मिली हुई वस्तुओं को अपना मानता है वह लोभी, मोही, अभिमानी होता है, वह परमेश्वर के विधान का विरोध करते हुए अधर्म का सेवन करता है अर्थात् वह परमेश्वर के लिये बेईमान है। ईमान धर्म का सेवन करने वाला, न्यायी, सत्यप्रेमी वही है जो सब कुछ परमेश्वर से मिला हुआ जान कर परमेश्वर की आज्ञानुसार मिले हुए का सदुपयोग करता है। जिन वस्तुओं से

आसक्ति नहीं रहती उन्हीं का सदुपयोग सरल हो जाता है। वस्तु को अपनी न मानने से आसक्ति नहीं रहती।

विचारशील सज्जन विचार करें! हम सबको लोभी, मोही, अभिमानी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, द्वेषी भगवान ने नहीं बनाया बल्कि भगवान से विमुख होकर भगवान से मिली देहादिक वस्तुओं को अपनी मानकर ही हम सब लोग लोभी, मोही, अभिमानी बने हैं; इसीलिये अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, छल, कपट आदि अनेक दोषों की पुष्टि होती रहती है। यही सब असत्संग अर्थात् सत् से विमुख होने का परिणाम है।

आज से ही यदि हम और आप मिले हुये शरीर तथा सम्बन्धियों से अपना अधिकार हटा लें; इन्हें अपना न मानें तो आज से ही मोह नष्ट हो जायेगा और वियोग का दुःख कभी होगा ही नहीं। इसी प्रकार, यदि मिली हुई सम्पत्ति को अपनी न माने, एक कोषाध्यक्ष की भांति इसका उपयोग करें तो लोभ का अन्त हो जायेगा और आज से ही हानि का भय अथवा दुःख न रहेगा यदि हम परमेश्वर से मिला हुआ सब कुछ जानकर अधिकार का त्याग कर दें और सेवक की भांति सबके अधिकार की रक्षा करते हुये अपने कर्तव्य का पालन करें तो अभिमान की निवृत्ति हो जायेगी साथ ही अपमान का दुःख कभी होगा ही नहीं।

मोह रहने तक ही वियोग का दुःख है, लोभ रहने तक ही हानि का दुःख है, अभिमान रहने तक ही अपमान का दुःख है, कामना रहने तक ही अभाव का दुःख है।

जितने भी दुःख हैं अपने बनाये दोषों के कारण ही हैं और सारे दोष अज्ञानवश सत् से विमुख होने पर ही बने हैं। अब सत् के सम्मुख होने पर ही दोषों का अन्त हो सकता है। सत् के सम्मुख होने पर करोड़ों जन्मों के अंधों का, पापों का नाश होता है। सत् परमात्मा से दूरी तो है नहीं, इसीलिये जब चाहें तभी सन्मुख हो सकते हैं, किन्तु सन्मुख होने के लिये हमें अपने स्वरूप को जान लेना अनिवार्य है।

सत् के सन्मुख होने के लिये सर्वोपरि सहायक है बुद्धियोग। क्योंकि जब तक बुद्धियोग नहीं होता तब तक सत्संग नहीं हो सकता।

इन्द्रियों के तथा मन के सहयोग से सांसारिक विषय रस का संयोग भोग होता है। अतः बुद्धियोग होने पर सत्संग होगा।

जहाँ इन्द्रिय तथा मन की प्रधानता है वहाँ बुद्धि स्थिर नहीं रहती असत् संगी की बुद्धि स्थिर नहीं रहती।

असत् संगी में अनुकूलता की तृष्णा, प्रतिकूलता में क्रोध तथा आसक्ति के कारण भय सदा बने ही रहते हैं। साथ ही लोभवश

चिन्ता सदा चिंतित बनाये रहती है। जहां तृष्णा, भय, क्रोध तथा चिन्ता है वहां बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती।

आत्मा में अनंत शक्ति, अनंत सामर्थ्य एवं अनन्त ज्ञान निहित हैं। किन्तु बुद्धियोग के द्वारा ही इन सबकी जागृति होती है।

इन्द्रिय ज्ञान हमें रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, अभिमानी बनाता है। बुद्धि ज्ञान हमें त्यागी, प्रेमी और दानी बनाता है। जिस प्रकार स्वार्थ छोड़ने से सेवा की भूमि पवित्र बनती है उसी प्रकार ममता छोड़ने से त्याग की भूमि सुन्दर होती है और भिन्नता दूर कर देने से प्रेम की भूमि परम श्रेष्ठ हो जाती है। यह सब कुछ बुद्धि योगी ही कर पाता है। जो भोग ऐश्वर्य में आसक्त है वह बुद्धियोगी नहीं हो पाता। बुद्धि के स्थिर होने पर योग होता है। जो कोई कामनाओं का त्याग कर देता है उसकी बुद्धि स्थिर होती है। जो सदा प्रसन्न रहता है, जिस पर द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता उसकी भी बुद्धि स्थिर होती है। जो कछुआ की भांति विषय प्रलोभन के अवसर पर अपनी इन्द्रियों को समेटने की कला जानता है उसकी भी बुद्धि स्थिर होती है।

सन्त–संग एवं स्वाध्याय द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि जो कोई निरन्तर युक्त मन से प्रीतिपूर्वक भगवान का स्मरण–चिन्तन करता है उसे भगवद् कृपा से बुद्धि योग सुलभ हो जाता है।

बुद्धियोगी सुख–दुःख, सुकृत–कुकृत, पाप–पुण्य की सीमा को पार कर जाता है, द्वन्द्वों के बन्धन से छूट जाता है। हम सब को

बुद्धियोगी होने का प्रयत्न करना चाहिये। इन्द्रिय ज्ञान का सदुपयोग सेवा में और बुद्धि ज्ञान का सदुपयोग दोषों के त्याग एवं तत्त्व–दर्शन में तभी होगा जब हम लोग बुद्धियोगी हो सकेंगे।

जब तक हम सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों (सम्बन्धियों) के लोभी, मोही, अभिमानी हैं तब तक इन्द्रिय ज्ञान को ही सब कुछ मान कर बुद्धि ज्ञान का अनादर कर रहे हैं। हम सुखासक्तिवश भले ही सत्य की, धर्म की अथवा गुरुज्ञान की अवहेलना करें, उपेक्षा करें परन्तु आपूर्ति का दुःख, अभाव का दुःख, प्रतिकूलता का दुःख तथा वियोग, हानि का भय एवं विनाश की चिन्ता और अलंघ्य कठोर दैवी विधान हमें हठात् शाश्वत शान्ति प्राप्त करने के लिये तथा सत्य की शरण के लिये ढकेल रहा है। जीवन में जहाँ कहीं अशांति, अतृप्ति है, वह पूर्णता के लिये प्रेरित कर रही है।

हमारे जीवन में अनिच्छित रूप में आने वाले अनेक कष्ट, दुःख कठोराघात यही सिद्ध करते हैं कि हम दोषी हैं, दुर्बल हैं, अज्ञान–अंधकार में भटकते हुए अनेक भूलें कर रहे हैं।

यदि आज से ही हम अपने सत्य लक्ष्य को जान लें और उसी से प्रीति करने लगें, साथ ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिये मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करें और सदाचार, संयम, सेवा को अपने जीवन में न छोड़े तो निश्चित है कि सभी कष्टों, दुःखों एवं बन्धनों का अन्त हो जायेगा।

हमें अब संसार से मुक्त होने के लिये परमात्मा की भक्ति के लिये सत्संग करना है, सत्संग करने के लिये असत्, अनित्य को जानना है ओर उससे असंग होकर रहना है।

जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश अवश्य होता है। जो उत्पत्ति विनाश से रहित है वही सत्य है। सन्त से सुना है कि सत् वही है जिससे कभी दूरी नहीं होती, जिसमें जड़ता नहीं होती। अतः सत् की खोज के लिये कहीं जाना भी नहीं है और उसे जगाने, उठाने के लिये उच्च स्वर से चिल्लाना भी नहीं है। हमें तो असत् से असंग होकर सत् की खोज बन्द कर देना है—ऐसा करते ही सत्संग होने लगेगा।

किसी की आसक्ति सत्संग में सदा बाधक है। आसक्ति के रहते आत्मिक शक्तियों का, सद्गुणों का विकास नहीं होता। आसक्ति शरीर को आलसी, इन्द्रियों को विलासी, मन को असंयमी और बुद्धि को अविवेकयुक्त बनाती है—यह गुरु की चेतावनी है।

भोग की रुचि का त्याग करते ही समस्त आसक्तियों की समाप्ति हो जाती है। आसक्तियों के मिटते ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीन पुरुष ही मुक्ति, भक्ति प्राप्त कर सकता है, वही सत् का संगी हो सकता है।

अहंकार की सीमा में ही भोग की रुचि होती है।

जहाँ किसी से मिल कर 'मैं' का ज्ञान होता है और किसी को मिलाकर 'मेरा' का ध्यान रहता है यह 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध ही भोग है। इस भोगमय जीवन में अनेक रोग हैं, शोक हैं। 'मैं' और 'मेरा' का जहाँ तक व्यापार है वहां तक अहंता ममता पुष्ट होती है। यही जीवन की गांठ है, जो बन्धन में बांधती है। इस गांठ को खोलने के लिये सत्संग परमावश्यक है। अपना अनुभव करने के लिये जब साधक अपने से भिन्न को नहीं देखता है और अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है तभी असत् से सम्बन्धित अहंता ममता का बन्धन मिट जाता है।

अपने को असत् अनित्य से सम्बन्धित करने पर अनेक क्षोभ एवं दुःख देखने पड़ते हैं।

सत्य का योगानुभव असत् के त्याग से होता है–असत् के द्वारा नहीं होता और असत् का त्याग अभी वर्तमान में ही हो सकता है। उसे भविष्य के लिये टाल देना प्रमाद है।

निष्काम पुरुष ही सत्संगी हो सकता है। निष्कामता उसी को सुलभ होती है जो अपने से अधिक किसी वस्तु का, अवस्था का, स्थान का, परिस्थिति का मूल्य नहीं बढ़ाता जो कहीं भी मोहित, आकर्षित नहीं होता।

निष्कामता आते ही वस्तुयें छाया की भांति पीछा करती हैं। यहाँ पर यदि साधक सावधान नहीं रहता तब सत्य से विमुख होकर अपने

पीछे दौड़ने वाली प्रिय किन्तु असार वस्तुओं को पकड़ना चाहता है। फिर भी पकड़ नहीं पाता और पुनः उनके पीछे दौड़ने लगता है–इसी को माया का मोहक जाल कहते हैं।

पूर्ण परमात्मा ने हमें सब कुछ दे रखा है और अपने को छिपा रक्खा है। हम उसे नहीं देख पाते, देखना भी नहीं चाहते पर वह हमें सदा देखता है।

सबसे विमुख होकर ही, सबका आश्रय छोड़कर ही, सब से निराश होकर ही, मानव परमाश्रय परमात्मा के सन्मुख हो सकता है। संसार का आश्रय ही प्रभु आश्रय में बाधक है।

जब तक हम सत्संगी नहीं होते तब तक अपने जीवन का तथा प्राप्त सामर्थ्य एवं योग्यता का बहुत बड़ा भाग असत् अर्थात् सांसारिक सुखों की आशा में लगा देते हैं, अन्त में शक्तिहीनता तथा पराधीनता से दुःखी होकर सत्शांति की खोज आरम्भ करते हैं। मैंने सन्त प्रवचन में सुना था कि यह संसार उसी को दुर्बल, भयातुर बनाता है जो संसार की वस्तुओं को अपनी मान लेता है और संसार के स्वामी को भूल जाता है।

यह शरीर अपने विनाश की आशंका से उसी को चिन्तित एवं शोकित बनाता है जो शरीर को अपना मान लेता है और शरीर के स्वामी को भूल जाता है।

सत्संगी न होने तक चिन्ता तथा भय के लिये स्थान बना ही रहता है।

इन्द्रिय ज्ञान का आदर और बुद्धि ज्ञान का अनादर करने वाला मानव सत्संगी नहीं हो सकता।

हम सबके लिये वही सर्वोत्तम साधन है जिसके द्वारा राग, द्वेषादि दोषों की निवृत्ति हो और नित्ययोग की, अविनाशी जीवन की एवं प्रेम की प्राप्ति हो।

सत् से अपने को दूर मानकर भय होता है और अभिन्न मान कर निर्भयता प्राप्त होती है।

प्रायः नव ग्रह के बन्धन में सभी प्राणी रहते ही हैं पर अहंग्रह सबसे प्रबल ग्रह है। यह जब तक लगा रहता है तब तक जीवन में सब कुछ दूषित हो जाता हैं अहंग्रह के रहते जीवन में संकीर्णता दूर नहीं होती। सत्संग से अहंग्रह दूर होता है।

असत्संग से दुःखी होकर अनित्य जीवन से निराश होकर ही विवेकी मानव पूर्ण त्यागी, पूर्ण तपस्वी तथा दानी एवं सेवापरायण हो सकता है। जिसे संसार से कुछ भी आशा है उसमें राग द्वेष का अन्त नहीं होगा। राग द्वेष से रहित होने पर त्याग और प्रेम पूर्ण होता है। चाह की उत्पत्ति प्रेम को दूषित कर देती है।

सत्य के संगी में ही चाह की निवृत्ति हो पाती है।

मोहरहित हुए बिना विनाश का भय न मिटेगा, अमरत्व की प्राप्ति नहीं होगी। सन्त ने यह भी समझाया कि रागरहित हुए बिना सम्बन्ध विच्छेद का दुःख न मिटेगा और नित्य योगी प्राप्ति न होगी।

प्रेम की पूर्णता बिना अनित्य रस का राग न छूटेगा और अनन्त रस की प्राप्ति न होगी।

यह भी स्मरण रहे कि व्यक्तित्व की दासता रहते हुए सत्यानुभव नहीं होगा सत्य वही है जो अपने उपासक को सत्य बना दे। सत्योपासना से ही पूर्णता प्राप्त होती है।

सत्य को अपने से भिन्न न मान कर अपने में ही सत्य को प्रतिष्ठित करके बुद्धि को सत्य चिन्मय स्वरूप के निकट रखना ही सत्य की उपासना है।

किसी प्रतीक में सत् का भावपूर्वक अनुभव कराना अर्थात् मन को उसी सत् में लगाये रहना साकारोपासना है।

उपासना के बिना विषयाकार वृत्ति नष्ट नहीं होती। गीता में पढ़ा है कि जिनकी प्रीति केवल सत् परमात्मा से ही है, जो सत्स्वरूप आत्मा में ही तृप्त है, सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।

सत्संगी प्रेमी फिर भी संसार में रहते हुए प्रतिकूलताओं का आदर करता है, सुख को बांटता रहता है, संसार–दृश्य को मायामात्र जानता है, कुछ भी किसी को भी अपना नहीं मानता।

सांसारिक वस्तुओं का चिन्तन वही करते हैं जो सत्संगी नहीं हैं।

जो संसार को चाहते हैं वे संसार को पकड़ नहीं पाते, जो संसार से विमुख हैं उन्हें संसार नहीं पकड़ पाता।

मिथ्या प्रतीत होने वाले दृश्य के संयोग से भोग और उसकी विमुखता से सत्य–योग स्वतः सिद्ध है।

सन्त ने बताया कि सत्संग प्रेमी के लिये वर्तमान कर्तव्य यही है कि वह विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करे, जाने हुये दोष का त्याग करे, परमात्मा में तथा उसके विधान में विश्वास करे तथा उससे ही नित्य सम्बन्ध जोड़े और जिससे छुटकारा पाना हो उसकी ममता का त्याग करे।

जिसके योगानुभव बिना सभी अपूर्ण है वही अखण्ड सत् है। सब कुछ विलीन होने पर जो शेष रहता है वही अखण्ड सत् है जिसमें अभावों का अभाव है वही पूर्ण सत् है।

जो सत् के संग को प्राप्त कर चुका है वही पूर्ण वीर है, विजयी है क्योंकि वह अपने पर विजय प्राप्त कर चुका है; उसे ही महात्मा कहते हैं। वह निष्पक्ष दृष्टि से समदर्शी होता है, प्राणिमात्र के प्रति

दया करता है, शत्रु एवं सभी जीवों के प्रति सहानुभूति रखता है और दुर्बल की रक्षा करता है। कठोर परीक्षाओं में पूर्ण धैर्य, विचार तथा कार्य में निष्कलंक पवित्रता, बुरी भावनाओं तथा कल्पनाओं से मुक्त–प्रत्येक परिस्थिति में अबाध शान्ति, सहज स्वभाव से सद्गुण मुक्त आचरण, बुराई के बदले में भी भलाई सभी के साथ शान्तियुक्त व्यवहार, पूर्ण विनम्रता, अहंकार का त्याग, यह सभी दैवी सम्पदा सत्संगी महात्मा में देखी जाती हैं।

सत्संग के लिये हम सभी मनुष्य स्वतंत्र हैं, किन्तु अपने द्वारा स्वीकार किये हुए अर्थात् मन से माने हुए असत् संग से परतन्त्र हो रहे हैं।

असत्संग के कारण होने वाली परतन्त्रता पराधीनता को मिटाने के लिये सत्संग साधन है। संत संग के द्वारा सद्विवेक प्राप्त होता है।

****

यथार्थ–दर्शी

सज्जनों, उधर दुःख–सुख में, रोने–गाने वालों को देखो।
दुःख–सुख से रहित नित्य, आनन्द मनाने वालों को देखो।।
जिसकी प्रतीत तो होती है, पर प्राप्त नहीं होता कुछ भी।
उस अनित्य सुख में अपना, चित्त फंसाने वालों को देखो।।
जिस वस्तु, व्यक्ति से मिल करके कहते, 'मैं हूँ' 'यह मेरी है'।
इस ममता का फल दुःख है, अश्रु बहानेवालों को देखो।।
जो अपने से है भिन्न नहीं, जिसमें जड़ता का दोष नहीं।
उसको ही दूर मान कर, खोज लगाने वालों को देखो।।
जब तक वैभव, धन, मान, भोग में, तन में, मन रागी रहता।
तब तक जैसी गति होती, वेष बनाने वालों को देखो।।
चर्चा चलती है सत् की पर, जब रमण असत् में होता है।
सत्संग रहित उन सत्संगी, कहलाने वालों को देखो।।
देखते हुए उसको जानो, जिसकी सत्ता से देख रहे।
तुम पथिक सजग हो, मुक्ति भक्ति के पाने वालों को देखो।।

****

सद्विवेक योग

तुलसीदास हरि की करुणा बिन, विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई।।

जिसे सत्संग मिला है उसे विवेक होना ही चाहिये, यदि सद् असत् का विवेक नहीं हुआ तब तो निश्चित है कि सत्संग हुआ ही नहीं। विवेकयोग द्वारा ही जीवन का दर्शन हो पाता है। परन्तु विवेक की बाधक भूमिका से सावधान रहना होगा।

ऐश्वर्यमदमत्तानां क्षुधिताना च कामिनाम्।
अहंकार विमूढ़ाना विवेकोनैव जायते ।।

जो ऐश्वर्य मद से उन्मत्त हैं, जो क्षुधा से पीड़ित हैं, जो कामी हैं तथा जो अहंकार से मूढ़ हो रहे हैं, ऐसे मनुष्यों को विवेक नहीं होता। विवेक बिना शास्त्र ज्ञान व्यर्थ है।

शास्त्र ज्ञान निष्फल सकल, जो नहिं होय विवेक।
स्वाद न जानत करछली, चाखत पाक अनक ।।

विवेक बिना मुक्ति नहीं, दुःख निवृत्ति नहीं।

होय विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुवीर चरण अनुरागा।
बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

विवेक ही नित्य प्राप्त गुरु है, उसके आदर में ही कल्याण है। सद्विवेक के प्रकाश में ही जीवन की सभी शक्तियों का सदुपयोग होता है, मानवता का निर्माण तथा दिव्यता का अवतरण होता है।

विवेक के बल से अशुभ के पीछे शुभ का, असुन्दरता के पीछे सुन्दरता का योग होता है। इन्द्रियों की दृष्टि से जो कुछ सुखद सुन्दर प्रतीत होता है वही विवेक के प्रकाश में दुःखद, घृणित दीखता है।

सद्विवेकहीन प्राणी असत् पदार्थों का रागी, मोही, लोभी, अभिमानी होता है। विवेकयुक्त मानव, जो कुछ असत् है, उसके राग का, लोभ, मोह, अभिमान का त्यागी होता है। संसार में जो कुछ त्याग देने योग्य है उसके त्याग का सामर्थ्य विवेकी पुरुष में ही देखा जाता है।

अविवेकी प्राणी सुखोपभोग के पीछे ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि वृत्तियों द्वारा सब कुछ को अशुभ असुन्दर बना देता है। किन्तु विवेकी मानव परमार्थ के पथ में बढ़कर क्षमा तथा दया, उदारता, नम्रता, सेवा, निष्काम प्रीति द्वारा प्राप्त शक्ति,सम्पत्ति योग्यता को शुद्ध–सुन्दर बना देता है।

अविनाशी जीवन अर्थात् नित्य जीवन और विनाशी अनित्य देह की नश्वरता का ज्ञान, विवेक के प्रकाश में ही होता है।

सद्विवेक के प्रकाश में ही सुख में निरासक्त रहना और दुःख में धैर्य रखना सम्भव है। सद्विवेक रहित ऊँची शिक्षा तथा पर्याप्त शक्ति–सम्पत्ति मनुष्य के लिये अनेक अनर्थों की, बुराइयों की वृद्धि का हेतु बनती है।

सद्विवेक के प्रकाश में ही शिक्षा का तथा सुलभ शक्ति–सम्पत्ति का अपने हित और दूसरों के हित में सदुपयोग होता है।

विद्वान से शिक्षा मिलती है, विवेकी गुरु से दीक्षा प्राप्त होती है। दीक्षा के बिना शिक्षा मनुष्य को अभिमानी अर्थलोलुप (धन का लोभी) बनाती है।

जीवन केवल शिक्षा प्राप्ति के लिये नहीं बल्कि विवेकपूर्वक आत्मा के गुणों के विकास के लिये है। सन्त ने यह भी समझाया कि अविवेकी प्रार्थी मिली हुई शक्तियों एवं प्राप्त बलों का अभिमानी होता है, किन्तु विवेकी, बलों का सदुपयोग करते हुए स्वामी होता है। **विवेक के आदर और सामर्थ्य के सदुपयोग से साधक को सिद्धि सुलभ होती है।**

सद्विवेक का योगी मानव इसीलिये सर्वप्रिय सर्वहितैषी होता है क्योंकि वह विवेक कमे प्रकाश से कर्तव्य पालन करते हुए श्रमी होता है, संयमी होता है, विरागी होता है, सत्यानुरागी होता है और अभिमान नहीं करता।

सद्विवेक के प्रकाश में जीवन को जान लेने पर कुछ पाने योग्य वस्तु दीखती ही नहीं है, जो ग्रहण कर लिया हे उसे अस्वीकार करना ही शेष रहता है।

जो विवेकी पुरुष है उसका सारा पुरुषार्थ तृष्णा के त्याग, वासना नाश, सर्वहितकारी प्रवृत्ति, स्थिर बुद्धि एवं अडिग समता के लिये होता है।

सभी दोष दुर्विकार विवेक की कमी होने के कारण अथवा विवेक का आदर न करने के कारण जीवन के साथ सने रहते हैं।

जिसकी बुद्धि अनेक निर्णय से दबी रहती है वह अविवेकी है।

अविवेकी को संग्रह तथा उपभोग एवं राग प्रिय लगता है।

विवेकी सज्जन को दान तथा संयम और त्याग करना प्रिय लगता है। अविवेक से ही इच्छाओं का जन्म होता है। **सद्विवेक होने पर इच्छाओं का त्याग होता है।**

अविवेकी मनुष्य संसार में रागी होने के कारण प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करता है। विवेकी मानव संसार में त्यागी होने के कारण जो कुछ मिला है उसका सदुपयोग करता है।

अविवेकी, दुरुपयोग के फलस्वरूप बार–बार विनाश को देखता है। सद्विवेकी, सदुपयोग का फल, सुन्दर विकास में देखता है। अविवेकी प्राणी जितना अधिक भोगी होता है उतनी ही उसे जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता का दुःख भोगना पड़ता है। सद्विवेकी मानव संयम और त्याग के बल से स्वाधीनता, आध्यात्मिक सामर्थ्य और चिन्मयता का अनुभव करता है। सर्वभावेन परमात्मा में रति और प्रेम

की प्राप्ति–यही विवेकी के जीवन की शान्तिपूर्ण सिद्धि है, सफलता है।

मानव जीवन सुख–दुःख के भोग के लिये नहीं मिला है वरन् सुख–दुःख के सदुपयोग के लिये मिला है। सद्विवेकी मानव दुःखी दशा में विरक्त त्यागी होकर दुःख का सुदपयोग करता है और सुखी दशा में उदार बनकर सेवा करते हुए सुख का सदुपयोग करता है।

सद्विवेकयुक्त मानव वही है जो संयोग में ही वियोग को देखता है, जीवन में ही आगे आने वाली मृत्यु को देखता है, सुखी दशा में ही उसके अन्त दुःख को देखता है और अन्त होने के प्रथम ही अनन्त का योगी हो जाता है।

सन्त ने समझाया कि विवेक के सहारे जब तुम सर्वोपरि महान् को जान लोगे तब तुम कहीं भी अपने श्रेष्ठ होने का अभिमान कर ही नहीं सकते। जब तक तुम्हारे मन में ऐसा भाव आता है कि ''अमुक महान कार्य मैंने किया'' तब तक तुम अहंकार की सीमा में ही आबद्ध हो।

तुम्हारे जीवन की सफलता तभी सम्भव है जब तुम अपने अहं को उस दिव्य शक्ति को समर्पित कर दो जिससे कि अहं प्रकाशित है–ऐसा करते ही तुम उस महान् में ही अपने को देखोगे; उसी प्रकार देखोगे जिस प्रकार एक किरण सूर्य में अपने को देखती हो जो कि सूर्य से कभी भिन्न नहीं होती।

विवेक योग द्वारा केवल ज्ञान स्वरूप को देखना, ज्ञान स्वरूप को सर्व संग से रहित देखना, अभिमानशून्य होकर देखना, यही आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति से समस्त भय का नाश हो जाता है।

परमात्मा अखण्ड सत्ता रूप से सर्वत्र विद्यमान है। संगाभिमान के कारण सभी बुद्धियों द्वारा उसका अनुभव नहीं होता। मनुष्य में जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण हैं, जो कुछ भी ज्ञान है, अथवा प्रेम है, वह सब परमेश्वर की विभूति है। संसार में सारी महत्ता परमेश्वर की ही है। उसी की सत्ता से सब कुछ हो रहा है, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य सब कुछ का कर्ता बनता है और इसीलिये भोग के लिये विवश होना पड़ता है।

मनुष्य चाहे जितना पढ़े सुने पर यदि विवेक न हो तब तो सत्य का अथवा परिणाम का ज्ञान नहीं होता है।

यह गुरु निर्णय है–कर्म की सार्थकता पवित्र विधिपूर्वक भाव से है और भाव की सार्थकता विचार विवेक से है। तुम सत्संगी होकर पारस्परिक व्यवहार में सद्विवेकरूपी प्रकाश को साथ रक्खो क्योंकि जो कुछ बुद्धि के आगे है, जिसके विषय में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उस पर विश्वास करना बुद्धि का अनादर है, दुरुपयोग है।

जो कुछ बुद्धि के पीछे है उसी पर विश्वास करना बुद्धिमान मानव के लिये उचित है, हितकर है।

विश्वास करने योग्य दो ही वस्तुयें हैं–एक तो नित्य प्राप्त परमात्मा है जिसकी प्रतीति इन्द्रियों द्वारा नहीं हो रही है, उसके होने का विश्वास करना ही चाहिये। दूसरी वस्तु है परमेश्वर की अहैतुकी कृपा। इस कृपा पर विश्वास ही किया जा सकता है, यहाँ बुद्धि की गति नहीं चलती है।

जहाँ परिवर्तन की गति है, जो कुछ अनित्य है, उस पर विश्वास करना भूल सिद्ध होगी, उसे मान लेना नहीं चाहिये, प्रत्युत विवेकपूर्वक प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति को तथा विनाश को जानना चाहिये।

एक वास्तविक अध्यात्मज्ञानी किसी अन्धविश्वास का अनुयायी नहीं होता किन्तु सभी धर्मानुयाइयों, अन्धविश्वासों के प्रति सहनुभूति रखता है।

इतिहास अध्ययन से पता चलेगा कि अन्धविश्वास के द्वारा सदा भयानक संकट कष्टों की उत्पत्ति होती रही है।

विचारविहीन प्राणी तो असत् अनित्य, मिथ्या वस्तुओं पर तथा दूसरों की ओर से मिलने वाली अनुकूलताओं पर विश्वास करते ही हैं, आश्चर्य यह है कि शिक्षित विद्वान् भी अशिक्षितों की भांति ही देहादिक वस्तुओं में एवं अनुकूलता–प्रतिकूलता पर विश्वास करते हैं। कदाचित् तत्वज्ञानी विरक्त महापुरुषों के प्रति श्रद्धा करते हैं तब भी उनके ज्ञान स्वरूप के प्रति प्रीति न करते हुए गुरुजनों के शरीर से प्रीति करते हुए अनित्य के विश्वासी बनते हैं, नित्य सत्य को नहीं जानते।

विवेकी वही है जो परमात्मा के नित्य ज्ञान में, देवी गुणों में प्रीति रखता है, विनाशी देह में रहने वाले अविनाशी आत्मा को जानता है।

सत्य का निर्दोष निरूपण करने में वही सफल होता है जो गुरु–ज्ञान का धनी हो, जो शिक्षित हो।

सत्य–असत्य का भेद पहिचानना सरल नहीं है, इनके लिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये और अच्छी शिक्षा भी आवश्यक है।

प्रथम सत्य विचार होते हैं। फिर सत्य वचन निकलते हैं, तत्पश्चात् सत्कर्म बनते हैं; तदनुसार ही फल की प्राप्ति होती है।

जहाँ विवेक ज्ञान की कमी रहती है वहाँ अन्धविश्वास के सहारे गति होती रहती है और ठोकरें खाकर, हानि उठा कर, शक्ति समय खोकर, कालान्तर में यह ज्ञान होता है कि कहीं अपनी ही भूल है, भ्रान्ति है और वह अज्ञान के कारण है।

अनेक धर्मनिष्ठ, कर्मनिष्ठ, सेवापरायण, सज्जन, उदार, शुद्ध, भाव वाले मनुष्य ऐसे दीखते हैं जो बहुत श्रम संयम के साथ जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु फिर भी वे अन्धविश्वास को नहीं छोड़ पाते। उन्हें अपनी मानी हुई पूजा–पाठ–जाप अनुष्ठान के आगे कुछ भी सत्य नहीं दीखता क्योंकि विचार करने की शक्ति कुण्ठित है।

कोई मनुष्य विचारपूर्व परिणामदर्शी बुद्धि का योग न प्राप्त करे तो हजारों वर्ष भटकते बीत जायेंगे दुःखों का अन्त न होगा, मुक्ति सुलभ न होगी।

विचाररहित अध्ययन की एक आदत बन जाती है, विचाररहित साधन करने का एक अभ्यास बन जाता है जिसकी पूर्ति में रस आता है परन्तु शाश्वत शान्ति नहीं मिलती।

विवेकी साधक के सद्‌गुणों का परिचय उसके परस्पर के व्यवहार में मिलता है उसे चाहे जितनी शीघ्रता से कोई कार्य पूरा करना हो फिर भी मित्रता एवं प्रीति पूर्ण सज्जनता का भाव दिखाने के लिये सदा ही समय मिल जाता है।

विवेकी साधक वही है जो कभी चिड़चिड़ेपन की वृत्ति को स्थान नहीं देता, जो कि स्नायु के थक जाने के कारण आती है। **सद्‌विवेकपूर्वक शक्ति के उपयोग में सावधान रहने से तथा वाणी में, मन में संयम रखने से आत्मनिरीक्षण की योग्यता बढ़ जाती है।**

जिस पुरुष में प्रत्येक क्रिया के पीछे विकास का योग, सद्‌लक्ष्य पर दृष्टि, संयमित वचन, शुद्ध व्यवहार, शुद्ध जीविका, यथार्थ परिणाम, सतत सावधानी, अटूट निष्ठा, ज्ञान—स्वरूप गुरुतत्व के प्रति पूर्ण श्रद्ध, निष्काम प्रेम का दर्शन मिले; वही पूर्ण विवेकी पुरुष है।

सद्‌विवेकी पुरुष के संग सम्बन्ध से विचार विवेक की वृद्धि होती है। सद्‌विवेक ही मान के उत्थान का प्रथम बल है और अन्तिम

स्वरूप दर्शन के लिये प्रकाश है। मूर्ख मनुष्य के सामने प्रतिदिन अनेक शोक के, भय के अवसर आते हैं, विवेकियों के सामने वही सत् असत् दर्शन के हेतु बन जाते हैं।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के स्थूल रूप, सूक्ष्म रूप, कारण रूप को बुद्धिमान जानता है। वही विवेकी है।

सद्विवेकी जड़ और चेतन के भेद को जानकर जड़ से चेतन स्वरूप को भिन्न देखते हुए भय, शोक,दुःख, दासता के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।।
अस विवेक जब देय विधाता। तब तजि दोष गुनहि मन राता।।

****

कई बार सोचा है मैंने, याद तुम्हारी क्यों आती है।
बार–बार चुपके से आकर, व्याकुल मुझे बना जाती है।।
जगतीतल के कोलाहल में, मैं जब खो देता अपने को।
अपने में जग को रख लेता, सत्य समझ लेता सपने को।।
तब यह बतलाने कि जगत के, सुख में कोई सार नहीं है।
तब यह समझाने कि तुम्हारा, इस पर कुछ अधिकार नहीं है।।
देव तुम्हारी यही शुभ स्मृति, सुख में ही दुःख दरसाती है।
कई बार सोचा है मैंने, याद तुम्हारी क्यों आती है।।
जब वसन्त की सुखद समीर में, तरु झूम–झूम जाते हैं।
कोयल कहीं कूकती है तो, भौंरे कहीं गुनगुनाते हैं।।

चारों ओर प्रकृति की मादकता, मन को मोहित करती है।
याद तुम्हारी उसी समय, मेरे मन में विराग भरती है।।
होती नहीं सदा वह अच्छी, बात कि जो मन को भाती है।
कई बार सोचा है मैंने, याद तुम्हारी क्यों आती है।।
जहाँ कि लद जाती है जड़ता, मेरी पावन चेतनता पर।
जहाँ विषमता विजयी होने, चलती है मेरी समता पर।।
मैं सत्याश्रय छोड़, परिस्थितियों के आगे जब झुक जाता हूँ।
ठुकराया जाता हूँ तब तो, शान्ति शरण में ही पाता हूँ।।
तुम जब दूर गए लगते हो, तुमको याद निकट लाती है।
कई बार सोचा है मैंने, याद तुम्हारी क्यों आती है।।

****

ब्रह्मचर्य योग

साधना की सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य की पूर्ण नितान्त आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक किसी प्रकार का बल संचित नहीं होता।

साथ ही वीर्य रक्षा मात्र से ही ब्रह्मचर्य की पूर्णता नहीं होती। वीर्य रक्षा के साथ–साथ उसके संशोधन और उद्‌बोधन से ब्रह्मचर्य की पूर्णता होती है। **ब्रह्म में अथवा ब्रह्मपथ में जिसके द्वारा उत्थान हो, स्थिति हो वही ब्रह्मचर्य है।**

जहाँ तक वासना का प्रभाव है, मिथ्या संकल्प उठते रहते हैं इन्द्रियां चंचल रहती हैं, मन शब्द रूप रस स्पर्श में सुख लोलुप रहता है, चित्त में विक्षेप वृत्ति चलती रहती है वहां तक ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णता होती ही नहीं।

जिस प्रकार स्थूल शरीर अन्नमय कोष में विन्दु की रक्षा आवश्यक है उसी प्रकार प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोष में भी विन्दु रक्षा अनिवार्य है। भिन्न–भिन्न कोष में विन्दु के भिन्न–भिन्न रूप हैं। एक कोष में सुरक्षित विन्दु दूसरे कोष के विन्दु में मिलाकर स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, रूप में परिणत होता जाता है।

संचित वीर्य शक्ति ही तीव्र प्रतीक्षा, उत्कट लालसा के रूप में भोगी बनाती है और योगी भी बनाती है।

कारण शरीर आनन्दमय कोष में इसी को अमृत विन्दु कहा जाता है। जब तक साधक स्थिररेता नहीं होता तब तक ऊर्ध्वरेता नहीं हो सकता।

जब कभी कोई साधक किसी रूप में मुग्ध होता है या शब्द स्पर्श में सुख मानकर आसक्त होता है वहीं से विन्दु की अधोगति हो

जाती है। इन्द्रियों द्वारा किसी भी विषय में सुखास्वाद लेना ही कामाचार है। विषय के भेद मिट जाने पर विषयाकार वृत्ति शान्त हो जाने पर ब्रह्माकार वृत्ति ही सुरक्षित ब्रह्मचर्य का परिणाम है।

संयम से विन्दु की रक्षा होती है। साधक का संयम जिस कोष से आरम्भ होता है उसी कोष में विन्दु सुरक्षित होता है। स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से अर्थात् अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष में वृत्ति का शान्त समस्थित होना ही संयम का परिणाम है।

जहाँ कहीं अन्नमय कोष द्वारा बिन्दु पात का सुख है अथवा प्राणमय कोष के द्वारा शक्ति प्रदर्शन का सुख है, मनोमय कोष के द्वारा संकल्पपूर्ति का सुख भोग है, विज्ञानमय कोष के द्वारा विचार प्रवाह का रस है वहीं भोग है, वहीं असंयम है, वहीं से ब्रह्मचर्य शिथिल होता है अहंचर्य पूर्ण होने लगता है।

संयम के द्वारा भौतिकवादी जन स्थूल प्रकृति के द्रव्यों के भीतर रहने वाली विशेषताओं की शोध करते हैं।

भौतिकवादी प्रकृति तत्वों की शक्ति को संयमित करके अति दुर्गम कार्यों की सिद्धि को अति सुगम बना रहे हैं। संयमित शक्ति के द्वारा महीनों में पूरे होने वाले कार्य मिनटों में पूरे हो रहे हैं। सौ आदमियों से पूरा होने वाला कार्य एक आदमी पूरा कर रहा है। लाखों सैनिकों के द्वारा जीती जाने वाली लड़ाई एक सैनिक द्वारा जीती जा

सकती है। इसी प्रकार के संयम द्वारा आधिदैविक शक्ति को केन्द्रित करके महान कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

तन्त्र तथा मन्त्र की सिद्धि संयम पर ही निर्भर है। यन्त्र की शक्ति वाह्य जगत में सफलता का साधन है, तन्त्र तथा मन्त्र के द्वारा संयमित शक्ति–सूक्ष्म जगत में देवताओं से सम्बन्धित होकर विविध सिद्धियों को प्रदान करती है।

संयम के द्वारा ही शक्ति का अधोमुखी प्रवाह रोका जाता है। संयम के द्वारा ही ऊपर से बरसती हुई शक्ति संचित की जाती है, शरीर के केन्द्रों में एकत्रित की जाती है।

एकत्रित शक्ति का अहंकार जब उपभोग करने लगता है वहीं से ब्रह्मचर्य खण्डित होने लगता है।

अहंकार की स्थिति अज्ञान की भूमि में ही होती है, जितना घना अज्ञान होगा अहंकार उतना ही पुष्ठ होगा। अहंकार से मुक्ति होने पर केवल ज्ञान शेष रहेगा। अज्ञान रहते अहंचर्य ही होता है, ब्रह्मचर्य पूर्ण नहीं होता। ब्रह्मचर्य की पूर्णता के लिये ज्ञानाचरण आवश्यक है। ज्ञानाश्रय द्वारा ब्रह्मचर्य से अधिक प्रतिष्ठित रहती है। अहंकार के साथ वस्तुओं, व्यक्तियों के प्रति ममता रहती है। ममता की सीमा में ही हिंसा होती है। भगवान ने इसीलिये गीता में कहा है कि जो **अहंकाररहित, निर्मम होता है वह मुझे अति प्रिय है।**

आचार्य का निर्णय है कि हिंसा का त्याग अहिंसा नहीं है, रोग का हट जाना स्वास्थ्य नहीं है। इसी प्रकार किसी के आगे सर झुका देना अहंकार का त्याग नहीं है।

जो सत्य प्रेम में जाग्रत होता है वही अहिंसक हो सकता है जो नित्य चेतन में है, वही स्वस्थ है।

जो किसी के साथ मिलकर किसी के बनाये कुछ भी नहीं बनता है वही अहंकाररहित है।

निरन्तर स्वाध्याय तथा इन्द्रियों को संयम में रखने से, कष्ट सहिष्णुतारूपी तप से शरीर को नित्य शुद्ध रखने से, भोगवृत्तियों की पूर्ति न करने से ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है।

जितनी सावधानी से ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया जाता है और व्रत में जितनी दृढ़ता होती है उतनी ही मति, मेधा, बल, ओज, स्मृति, धृति, ज्ञान–विज्ञान, सामर्थ्य और प्रतिभा की वृद्धि अथवा पूर्णता होती है।

एक सन्त कह रहे थे कि श्वेत शोणित को जो देह में ही पचा लेता है वही उत्तम साधक है, परन्तु जिस साधक के नेत्र रूप में मोहित होते हैं, जो स्पर्श सुख के लिये लालायित रहता है, जिसकी रसना स्वाद–लोलुप रहती है, वह देह में वीर्य को नहीं पचा पाता।

जिसके मन में काम वासना प्रबल रहती हो उसे अगस्त के पत्तों का एक छटांक साग सेवन करते रहना चाहिये और मिर्चा, खटाई, मूली, खट्टे आम, शकर आदि तीक्ष्ण वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिये। जो खाद्य वस्तु जिह्वा में रखने से तीक्ष्ण प्रतीत होगी उसका प्रभाव मन में इन्द्रियों में भी तीक्ष्णता लायेगा।

योग की सिद्धि के लिये भोगमय वृत्तियों में प्रवाहित शक्ति का संयम अति आवश्यक है। ब्रह्मचारी ही संयमी होता है, अहंचारी असंयमी होता है।

जो सुख शरीर इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि आदि किसी अन्य के आश्रय से मिलता है उस सुख से विरक्त हो जाना, उस सुख की कामना न करना पूर्ण संयम है। इस प्रकार के संयम से ही योग पूर्ण होता है। ब्रह्मचर्ययोग में सर्वांग संयम आवश्यक है।

पराश्रय से मिलने वाले सुख की वही कामना नहीं करता जो 'स्व' में प्राप्त आनन्द का अनुभव कर लेता है। 'स्व' में आनन्द का अनुभव वही करता है जो 'पर' से अर्थात् अन्य से अपने को असंग देखता है।

देहादिक पर वस्तु से असंग होने के उपायों को भी योग साधन कहते हैं।

जब ब्रह्मचारी देह इन्द्रियाँ मन बुद्धि के संयोग का भोगी नहीं रह जाता तब जो कुछ सदा विद्यमान है, जो सबका परमाश्रय है,

उसी से योग होता है। उसी योग की पूर्णता के लिये अपनी–अपनी मान्यता तथा योग्यता एवं संग संस्कार अधिकार के अनुसार विविध योग का प्रयोग करना पड़ता है।

सन्त वचन– जितना वैराग्य प्रबल होगा, उतना ही शीघ्र योग होगा। शव बने बिना शिव की प्राप्ति नहीं होती। विचार करो! जो कुछ भी दीख रहा है सब मिट रहा है। जो पहले था वह अब नहीं रहा, जो कुछ है यह भी न रहेगा।

बुद्धि दृष्टि का सदुपयोग

ओ देखने वाले तू अपने ज्ञान को भी देख ले।।
उस निज स्वरूप ज्ञान के अज्ञान को भी देख ले।।
इन्सान में हैवान को शैतान को भी देख ले।
तू ऐसी दृष्टि प्राप्त कर भगवान को भी देख ले।।
सुनते हुए, कहते हुए, सब जानते हुए भी।
तू अपने अहंकार के अभिमान को भी देख ले।।
परमात्मा के ध्यान में जब मन नहीं लगता है।
वह लगा हुआ कहीं उस ध्यान को भी देख ले।।
जिसमें सभी आरम्भ हैं और अन्त हैं जिसमें ही।
उस सर्वमय अनन्त शक्तिमान को भी देख ले।।
नश्वर को सत्य मानना यह तो है अविद्या ही।
विद्वान है तो नित्य विद्यमान को भी देख ले।।
कितना कुशल है वह प्रभु अपने को छिपाने में।
तू पथिक उस महान के सुविधान को भी देख ले।।

सदा जो सुसंगति में आते रहेंगे।

विवेकी स्वयं को बनाते रहेंगे।।

मिलेगी नहीं शांति उनको कहीं भी।

जो परमात्मा को भुलाते रहेंगे।।

बनें कभी मुक्त जीवन में वे ही।

जो चाहें को अपनी घटाते रहेंगे।।

सुखी होंगे जो किसी को दुःख देकर।

वही अन्त में दुःख उठाते रहेंगे।।

उन्हें ही वह सुखसिन्धु स्वामी मिलेंगे।

जो दुखियों को सुख देते रहेंगे।।

उन्हीं की बनी और बनती रहेगी।

जो बिगड़ी किसी की बनाते रहेंगे।।

जो जितना अधिक दान कर लेंगे जग में।

वह पुण्यों की पूंजी बढ़ाते रहेंगे।।

न देंगे किसी को जो शुभ और सुन्दर।

कभी बैठे माखी उड़ाते रहेंगे।।

जो कुछ दीखता है रहेगा न सब दिन।

कहाँ तक यहाँ मन फंसाते रहेंगे।।

'पथिक' अपने में अपने प्रियतम को पाकर।

महोत्सव निरन्तर मनाते रहेंगे।।

सेवा योग

सद्विवेक का सुयोग होने पर सेवा की पूर्णता सम्भव है। सेवा के द्वारा कुयोगों की निवृत्ति होती है, सेवा ही स्वार्थ का प्रायश्चित है। अविवेकी का स्वार्थ संसार से पूर्ण होता है, इसीलिये उस पर संसार

का शासन रहता है। सेवा से ही आत्म–शुद्धि होती है और ऐसी सेवा परमार्थी साधक ही कर पाता है।

वैसे तो स्वार्थी लोग भी अपने को सेवक कहते हैं परन्तु विवेकहीन स्वार्थी, इन्द्रिय–लोलुप तथा धन एवं मान, भोग की कामना रखने वाला सदाचारी नहीं हो पाता, इसीलिये सदाचारयुक्त सेवा ही साधना में सहायक होती है।

जो कुछ हम अपने लिये दूसरों के द्वारा व्यवहार, बर्ताव नहीं चाहते, वही दुराचार है; और जैसा व्यवहार, बर्ताव हम दूसरों से अपने लिये चाहते हैं, उसी को सदाचार समझना चाहिये।

जिस कर्म से दूसरों का अहित न हो, भय न हो, लज्जा न हो, उसी को सदाचार कहते हैं।

जो सदाचारी सेवक है वह शरीर से हिंसा, चोरी, व्यभिचार नहीं करता वाणी से झूठ तथा कठोर वचन एवं व्यर्थ वचन और अपनी प्रशंसा के वचन नहीं बोलता। वह मन से लोभ, क्रोध, अहितकारी भावनाओं एवं अशुभ वृत्तियों का त्याग करता है।

सन्त जन सदाचारयुक्त सेवा को आत्म–शुद्धि का सर्वोत्तम साधन बतलाते हैं, साथ ही कठिन भी कहते हैं।

राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, अभिमान, क्रोधादि विकारों का त्याग करके ही कोई सेवाव्रत को पूर्ण कर सकता है। स्वार्थ त्याग किये

बिना सेवा पूर्ण नहीं होती। सुखासक्त व्यक्ति एवं लोभी, अभिमानी व्यक्ति सेवा नहीं कर सकता। **जिसे अपने शरीर के सुख की इन्द्रियों के रसास्वाद की तथा रुचि पूर्ति की चिन्ता नहीं, वही सेवा कर सकता है।**

सच्चे सेवक में स्वतः ही त्याग, तप, दान, ध्यान की पूर्णता होती जाती है। सेवक को ही संसार का अथवा सम्बन्धित जनसमुदाय का प्यार मिला करता है।

स्वयं सन्तुष्ट रह कर प्राप्त योग्यता के द्वारा, मिली वस्तुओं के द्वारा दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति करना तथा सुख पहंचाना सेवा धर्म है। वयोवृद्ध गुरुजनों की आज्ञानुसार चलते हुए उन्हें सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखना सेवा है।

यह गुरु निर्णय है कि सेवा वही कर सकता है जो अपनी प्रसन्नता के लिये किसी वस्तु तथा अवस्था एवं परिस्थिति की प्रतीक्षा नहीं करता। सेवा वही कर सकता है जिसके मन में सब के हित का दृढ़ संकल्प हो चुका है और दोषों, दुर्गुणें का त्याग वही कर सकता है जो संसार के स्वरूप को जानता है।

सेवा से ही हृदय करुणा एवं प्रसन्नता से भरा रहता है।

व्यक्तियों की सेवा में ही वस्तुओं का सदुपयोग होता है।

सेवा उसी से हो पाती है जो किसी का अनादर नहीं करता, किसी का बुरा नहीं चाहता, किसी की हानि नहीं सोचता। सेवक के लिये सदाचारी होना परमावश्यक है।

सर्वागमानाचारः प्रथमं परिकल्पते,
आचार प्रभवोधर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।।

सर्व धर्मशास्त्रों में आचार प्रथम माना जाता है। आचार से ही धर्म की उत्पत्ति होती है और धर्म के स्वामी भगवान अच्युत है।

सद्विवेकपूर्वक उत्तम से उत्तम व्यवहार को आचार कहते हैं।

सदाचारयुक्त सेवा उत्तमोत्तम व्यवहार से ही पूर्ण होती है उत्तमोत्तम व्यवहार के लिये पांच बातें आवश्यक हैं–

(1) स्वार्थ का त्याग, (2) अहंकार का त्याग, (3) शुद्धाचरण, (4) विनय (5) प्रेम।

सदाचारी सेवक की सारी प्रवृत्ति सर्वहितकारी होती है तभी उसमें निष्कामता आ जाती है, इसीलिये वह निरभिमानी, विनयी, त्यागी, दानी होता है।

अपने से छोटों की सेवा, अपने से अधिक दुखियों की सेवा, समाज, जाति, देश की सेवा तथा अपने प्रियतम प्रभु की सेवा में भाव का भेद है किन्तु त्याग, दान तथा निष्कामता सब के प्रति समान है।

देह, सम्पत्ति आदि वस्तु की दासता सेवक नहीं होने देती।

स्वामी का सच्चा सेवक वही है जिसके हृदय में स्वामी के अतिरिक्त किसी अन्य को निवास नहीं मिलता। सन्त प्रवचन में मैंने सुना था कि सेवक के स्वभाव में सदा पवित्रता साथ रहती है।

स्वार्थी, सुखासक्त जन यश–कीर्ति के पीछे दौड़ते रहते हैं; वही यश तथा कीर्ति सेवक के पीछे–पीछे चलते हैं।

अपने प्रेम–पात्र का प्रेम पाने के लिये सेवा ही एकमात्र साधन है। सेवा के द्वारा ही संसार के राग की निवृत्ति होती है ओर पुण्य कर्म से त्याग का बल आता है।

त्याग के द्वारा ही गुण ग्रहण करने की शक्ति आती है। सद्गुण सम्पन्न व्यक्ति में आज्ञापालन की क्षमता होती है, आज्ञापालक में ही सेवक होने की शक्ति आती है। सेवक जीवन में दीनता और अभिमान के लिये कोई अवसर नहीं मिलता।

सन्त ने यह भी समझाया कि तन, मन, धन से सेवक होना उन्नति का सर्वोपरि साधन है, लेकिन सेवक कहलाना अवनति का कारण।

परमार्थी साधक आरम्भ में सेवक होता है, मध्य में वही त्यागी होता है और अन्त में वही प्रेमी हो जाता है। प्रपंची मानव आरम्भ में स्वामी बनता है, आगे चलकर वही रागी बनता है, अन्त में वही मोही होकर संसार सागर में डूबता है।

सेवा के द्वारा दोषों का त्याग होता है, गुणों का विकास होता है, स्वार्थी लोगों ने समाज सेवा, जाति सेवा, देश सेवा, गुरु सेवा, भगवत् सेवा को अपनी स्वार्थ भावना से कलुषित कर दिया है।

जो अपनी कल्पित भावनाओं में आसक्त हैं, जिनके विचार संकुचित हैं, वे सेवा के अर्थ, भाव एवं रहस्य को नहीं समझ पाते।

पुरुष की अपेक्षा जीवन को सुन्दर और दिव्य बनाने के लिये नारी–जीवन में सेवा का व्रत पूर्ण कर लेना बहुत ही सुगम है।

नारी–जीवन में आरम्भ से ही दान का पाठ सिखाया जाता है। उसका शरीर तक किसी की सेवा में दान कर दिया जाता है।

जो नारी सेवा व्रत की महत्ता को न जानकर अपने सुख का पक्ष लेती है वह जीवन का दुरुपयोग कर दुर्भाग्य भवन में रहने के लिये तैयारी करती है।

जो नारी सेवा व्रत को पूर्ण करना चाहती है उसके लिये दरिद्रता का त्याग अति आवश्यक है।

सम्बन्धियों से अपने मन की पूर्ति चाहना दरिद्रता है।

जो नारी उदरतापूर्वक सेवा करना चाहती है वह चार बातों की चाह छोड़ दे–**प्यार की चाह, धन की चाह, मान और अधिकार की चाह**–इन चार को छोड़ देने से सेवा व्रत पूर्ण होता है।

अपने सम्बन्धियों से मान न चाहना, प्यार न चाहना, धन न चाहना, सुन्दर वस्त्राभूषणों के लिये न तरसना–यही दरिद्रता का त्याग है।

जो नारी सच्ची प्रेमिका है वह अपने प्रेम–पात्र से धन, मान, अधिकार एवं प्यार की इच्छा न रखते हुए स्वयं अधिकारियों को मान का दान, प्यार का दान, अधिकार का दान करते हुए सदा शान्त–प्रसन्न रहती है।

उदार–दानी ह्रदय वाली नारी के सामने सेवा करते हुए ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, कलह के अवसर ही नहीं आते।

सेवापरायण नारी जिस गृह में जाती है उस गृह को स्वर्गवत् बना देती है, **जबकि स्वार्थी नारी स्वर्ग को भी नर्क में बदल देती है।**

सेवा के बदले में धन चाहना, मान अथवा अधिकार चाहना या प्यार चाहना, सेवा का मूल्य लेकर सेवा को बेच देने के समान है।

वास्तविक सेवा वही है जिसके द्वारा आसक्तियों का, माने हुए सम्बन्ध का अन्त हो जाता है।

जिस शक्ति, सम्पत्ति तथा योग्यता के द्वारा सेवा बनती है, उसे अपनी न मानकर उसी की मानना चाहिये जिसकी सेवा में शक्ति, सम्पत्ति आदि का उपयोगा होता है। क्योंकि जिसके भाग्य की जो वस्तु होती है उसी को मिलती है, किसी वस्तु का स्वयं स्वामी बनना

अभिमान को पुष्ट करना है। सच्चे सेवक अपने सेव्य की ओर से अपने प्रति होने वाले सम्मान, अपमान से हर्षित या शोकित नहीं होते, वरन सेव्य की रुचि समझ कर सदा सम शान्त रहते हैं।

सेवा का व्रती शक्ति के उतने ही अंश को सार्थक मानता है जितने से सेवा हो जाती है और सेवा स्वीकार करने वाले को धन्यवाद देता है, क्योंकि सेवा ही उसके लिये परम सुखद ध्येय है।

सन्त ने हमें सावधान किया है कि सेवा को पूर्ण बनाने के लिये श्रम, सदाचार, सद्विवेक, प्रीति और संयम का योग आवश्यक है।

वाह्य और आन्तरिक दो प्रकार की सेवा होती है। मिली हुई वस्तु को योग्यता तथा सामर्थ्य को अपनी न मान कर उसके द्वारा सर्वहितकारी कार्य करना और जिसकी सेवा की जाये उसी की वस्तु मानना वाह्य सेवा है।

आन्तरिक सेवा के लिये सर्वहितकारी भाव ही सब कुछ हैं।

विवेकी सेवक अपने प्रेमपात्र की सेवा करते हुए उसी के नाते आवश्यकतानुसार सभी प्राणियों की सेवा में तत्पर रहते हैं। वे पर निन्दा में समय नष्ट नहीं करते बल्कि सत्चर्चा करते हुए, सत्–चिन्तन करते हुए,पर–सेवा में ही लगे रहते हैं। सेवक किसी का दुःख मिटाने के भाव से सेवा नहीं करता, वह तो अपना सुख बांटता रहता है; यथाशक्ति दूसरों को या सेव्य को सुख देता रहता है।

परमार्थ–प्रेमी सज्जन जप, सन्ध्या, पूजा, पाठ को ही धर्म या कल्याण का साधन नहीं मानते। वे सत्य, दया, दान, श्रम, सेवा में श्रद्धा रखते हैं।

जिसमें माधुर्य गुण होता है वह सब को अपना लेता है, अपना बना लेता है–यह गुण सेवा के द्वारा ही आता है। दूसरों के अधिकार की रक्षा करना सेवा है और अपने अधिकार को भूल जाना त्याग है। सेवा और त्याग से जीवन में पूर्णता प्राप्त होती है, सेवा से ही भोग वासनायें मिटती हैं।

यह गुरु सम्मति है–कुछ न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहंकाररहित होकर सेवा करो।

आत्मस्वरूप से सबको अपना स्वरूप मान कर सेवा करो।

परमात्मा को सब भूतों के हृदय में स्थित समझते हुए जो तुम्हारे सामने आ जाये उसकी सेवा करो।

देश, काल, पात्र का विचार रख कर सेवा करो।

सेवा करते हुए कष्टों के मूल कारण को जानो। संसार सेवा का सुख चाहता है, उसे देकर संसार से मुक्ति मिलती है।

अपने लिये किसी को अपना न मानो, सबसे निराश हो जाओ और सेवा करना हो तो परमेश्वर के नाते सब को अपना मानो।

सुखोपभोग की आसक्ति सेवा के द्वारा ही मिटती है। सुखोपभोग की आसक्ति हमको हृदयहीन बनाती है।

हृदयहीन होने पर हम दुःखियों के दुःख को नहीं समझ पाते और अपने सुख के लिये दुःखियों को अनेक कष्ट देते रहते हैं। सेवा ही सुख का सदुपयोग है, पर सेवा वही कर सकता है जो दुःखियों को देख कर दुःखी हो या अपने प्रेमपात्र को सदा सुखी देखने का अभिलाषी हो।

सच्चा सेवक उस दुःख को सहर्ष अपना लेता है जिस दुःख से दूसरों का हित हो सकता है या सेव्य को प्रसन्नता प्राप्त होती है।

सच्चा विवेकी उस सुख का त्याग करता है जिसमें किसी का अहित छिपा दीखता है।

सेवा प्रेमी सज्जन से वास्तविक सेवा तभी पूर्ण हो सकती है जब प्रत्येक क्रिया ज्ञानपूर्वक हो क्योंकि सद्विवेक एवं ज्ञान के द्वारा ही अपने तथा दूसरे के हित का पता चलता है।

वास्तविक ज्ञान अथवा विवेक ज्ञानियों की सेवा में तत्पर रहने से सुलभ होता है। सत्चर्चा करते हुए प्रत्येक कर्म विचारपूर्वक करने से तथा स्वाध्याय से भी ज्ञान बढ़ता जाता है।

स्वाध्याय का अर्थ केवल ग्रन्थ पढ़ते रहना नहीं है वरन् किसी सद्ग्रन्थ एवं धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र का अध्ययन करते हुए अपने जीवन को देखना, आत्मनिरीक्षण करना स्वाध्याय होगा।

स्वाध्याय से अपने भीतर के दोषों–दुर्गणों का ज्ञान होता है। दूसरे के दोष दर्शन में प्रायः सभी मनुष्य कुशल होते हैं। जो अपने दोष देखते हैं उन्ही को दूसरे के दोष दर्शन का अवकाश नहीं मिलता। अपने में गुणों का अभिमान होता है तभी दूसरों में दोष दर्शन से घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं जो कि बहुत बड़ा दोष है।

दोषों को दूर करने के लिये ही तप, त्याग, ज्ञान एवं दान आवश्यक है जो कि सेवा व्रत धारण करने वाले में होना ही चाहिये।

हम सबको इस सत्य का भी ध्यान रखना है–सेवा उन्हीं साधनों से की जाती है जो शुद्ध हों। सेवा के लिये शरीर, इन्दियां, मन, बुद्धि तथा सेवा की सामग्री–सभी कुछ शुद्ध होनी चाहिये।

शरीर के प्रत्यंग शुद्ध होने पर शुद्ध क्रिया सम्पादित होती है। इन्द्रियों की शुद्धता से सदाचार पूर्ण होता है। इसी के द्वारा समाज में चरित्र निर्माण की भूमिका बनती है।

मन के शुद्ध होने पर अनित्य को अपना मानना और उनका मनन करना छूट जाता है। सत् को ही अपना मानना और मनन करना शेष रहता है, तदुपरान्त अशुद्ध संकल्प मिट जाते हैं। निर्विकल्पता, निःसंकल्पता आने पर सत् से योग हो जाता है और

असत् से सम्बन्ध टूट जाता है। सेवक को सावधान रहना चाहिये। यह गुरु निर्णय है कि मन की शुद्धि उसे दबाने से नहीं होती; वरन् कर्तव्यनिष्ठ, सेवापरायण होकर त्याग से, दान से, ज्ञान से होती है।

बुद्धि के शुद्ध होने पर विषमता का नाश होता है, भेद–भाव मिट जाता है, सब में एक परमतत्व की विभुता का अनुभव होता है, शान्ति प्राप्त होती है।

अहं के शुद्ध होने पर अभिमान नहीं रहता, असत् संग में मोह नहीं रहता क्योंकि अहं अपनी प्रीति अनित्य वस्तुओं से न मिला कर नित्य वस्तु से मिला देता है।

रागी द्वेषी मानव सेवा नहीं कर सकता। सेवा वही कर सकता है जो किसी का बुरा न चाहे।

रोगीजन तथा बालक एवं वृद्ध अथवा सत्यान्वेषक विरक्त यही सेवा के पात्र हैं।

सुख की आशा से की हुई सेवा भोग में बदल जाती है। सुखोपभोग से ही अहंभाव पुष्ट होता है, देहाभिमान पुष्ट होता है।

जो मानव विवेकी, वैराग्यवान, सदाचारी और प्रेमी हैं वे अन्धकारपूर्ण जगत में तारे की भांति चमकते हैं किन्तु जो दूसरों को भी विवेकी, विरागी, सदाचारी और प्रेमी बनाते हैं वे तो निर्मल आकाश में सूर्य की भांति प्रकाशित होते हैं।

सेवक साधक को अपने स्थूल सूक्ष्म शरीरों को पवित्र निर्मल रखने के लिये सदा सावधान रहना चाहिये जिससे कि अपवित्र होने के स्थान में अपने को बचाया जा सके।

स्थूल शरीर के पोषण के लिये शुद्ध सात्विक उपयोगी भोजन के अतिरिक्त कुछ न देना चाहिये क्योंकि अविवेकपूर्वक स्वादयुक्त भोजन तथा अमर्यादित श्रृंगार विलासिता को ही अधिक पुष्ट करते हैं।

अन्नमय पुरुष, प्राणमय तथा मनोमय एवं विज्ञानमय पुरुष की मांग में बहुत अन्तर रहा करता है। सेवक को चाहिये कि इन शरीरों की इच्छा को अपनी इच्छा न मान बैठे।

कभी–कभी स्थूल शरीर की इच्छा पूर्ति में सूक्ष्म शरीर बेईमान अन्यायी बन जाता है और सूक्ष्म शरीर की रुचि पूर्ति के पीछे स्थूल शरीर हिंसक दुराचारी हो जाता है।

अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये; शरीर, मन, वाणी के द्वारा उतावलापन नहीं होना चाहिये।

असंयमी व्यक्ति स्वतन्त्रता के नाम पर मनमुखी स्वच्छन्द रहते हुए अपने शरीर की दासता में आबद्ध रहते हैं।

सेवक के सन्मुख जब कोई उत्तम सेवा का कार्य आये और उस समय शरीर आराम करना चाहे, टहलने जाना चाहे अथवा किसी प्रिय के संयोग में रस लेना चाहे तथा खान–पान में लगना चाहे, तभी

साधक को समझ लेना चाहिये कि यह मेरी अपनी इच्छा नहीं वरन् अन्य शरीर की इच्छा है क्योंकि इस प्रकार इच्छायें वासनात्मक देह के कम्पन हैं। इनका समयानुसार उपयोग करना चाहिये। अपने शुभ संकल्प के बीच में निम्न इच्छाओं को स्थान नहीं देना चाहिये।

जब कभी सेवाकार्य में कष्ट का अनुभव हो और सेवाकार्य को टाल दिया जाये तब समझना चाहिये कि वासनात्मक या स्थूल देह की इच्छा का पक्ष लिया जा रहा है; साधक को अपने भले कार्यों का पक्ष लेकर निम्न सुख का विरोध करना चाहिये।

विवेकी सेवक शरीर को अपना वाहन समझता है, इन्दियों को, मन को एक हथियार की भांति सावधानी से काम में लाता है, इन सबकी उचित सम्हाल रखता है; वह न तो इनकी उपेक्षा ही करता है न इनका दास बन कर रहता है।

पवित्र कार्य करने के लिये अपने सभी अंगों को, शरीरों को पवित्र रखना आवश्यक है। शक्ति की पवित्र धारा अपवित्र अंगों में उसी प्रकार मलिन हो जाती है जिस प्रकार जल की धारा गन्दे नल के द्वारा प्रवाहित होने पर मैली हो जाती है।

सेवक का शरीर पूर्ण स्वच्छ और स्वस्थ रहना चाहिये। जिनके शरीर स्वच्छ नहीं हैं, पूर्ण स्वस्थ नहीं हैं, वह अपवित्र, रोगी शरीर प्रायः दुष्कर्म में प्रवृत्त होते हैं। जहाँ क्रोध, ईर्ष्या, द्वेषयुक्त प्रवृत्ति है, कटु वचनों का प्रयोग किया जाता है, जहाँ लोभ तथा काम प्रबल हैं

वहाँ वासनामय देह की प्रबलता समझनी चाहिये। विषाद, खिन्नता, उदासी, चिड़चिड़पन यह भी वासना शरीर की ही वृत्तियां हैं। इन वृत्तियों से अपने ऊपर ही नहीं, दूसरों पर भी अनुचित प्रभाव पड़ता है।

वासनामय देह की तामसी एवं रजोगुणी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिये उनका बार–बार मनन करना उचित नहीं है बल्कि उस दूषित वृत्ति के प्रतिकूल पवित्र गुण का मनन करना चाहिये। जैसे कि ईर्ष्या, द्वेष के स्थान में प्रेम भाव का चिन्तन, लोभ के स्थान में उदारता का चित्र गढ़ना उत्तम है, स्वार्थ के स्थान में निःस्वार्थ सेवा का चित्र देखना चाहिये।

सेवा करने वाले सज्जन को तीन बातें गुरु मंत्र की भांति स्मरण रखनी चाहियें क्योंकि यह गुरु आदेश है–

(1) प्रथम बात यही है कि संसार में जो कुछ मिला है उसे अपना न मानो। (2) जो कुछ दूसरों के पास दिखाई दे, उस पराई वस्तु की इच्छा न करो। (3) किसी का भी बुरा न चाहो।

इन तीन बातों का ध्यान रखने से मोह, अभिमान तथा क्रोध, लोभ के लिये स्थान ही नहीं मिलता।

जिसके मन में मोह, लोभ, अभिमान है वह संग्रही अवश्य होगा, जो संग्रही होगा वह सेवा में उदारतापूर्वक प्राप्त सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर पायेगा।

संग्रह से आलस्य, विलासिता तथा अभिमान की वृद्धि होती है। संग्रह से अहंकार पुष्ट रहता है।

संग्रह करने वाले का हित केवल पूजा–पाठ से नहीं होग जब तक वह संग्रहीत धन के द्वारा उदारतापूर्वक सेवा न करेगा या दान न देगा।

संत महापुरुषों के प्रति श्रद्धा रखने वाला पुरुष सन्तोष धारण करने के पश्चात् जब संसार के सुखों से विरागी होता है तभी संग्रह के लोभ से छूट जाता है और तभी सेवा कर पाता है।

संसार में ऐसा कोई सुख नहीं जिसके आदि में और अंत में दुःख न हो, इसीलिये सुखी व्यक्ति को जहां तक बन सके सुखी दशा में सेवा कर लेनी चाहिये क्योंकि सुख सदा रहेगा नहीं।

सदा सुखोपभोग में मजा लेने वाले नहीं देख पाते कि अन्त में क्या सजा भोगनी पड़ेगी क्योंकि ऐसा कोई सुख है ही नहीं जिसका अन्त दुःख में न हो। जो सज्जन सुख को सेवा के द्वारा बांटते रहेंगे, वही दुःख से बच सकेंगे।

सेवा करते हुए यह न सोचना चाहिये कि लोग हमारे विषय में क्या कहते हैं? क्या कहेंगे? बल्कि यह देखना चाहिये कि हम क्या हैं? क्या हो सकते हैं? क्या कर सकते हैं?

सेवा सीखने की बात नहीं हैं। किसी के सेवक होने पर स्वतः सेवा करना आ जाता है। सेवक को यही ध्यान रखना चाहिये कि जिसकी सेवा करना है उसकी रुचि क्या है और उसका अहित तो नहीं हो रहा है। सेवक को अपनी रुचि पूर्ति का पक्ष न लेना चाहिये।

सेवा करते हुए परमात्मा का स्मरण करते रहना और शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता, ज्ञान, विवेक—सब कुछ परमात्मा की कृपा से मिला हुआ समझना परम सौभाग्य की बात है।

निरीक्षण

इस जग में सुखासक्त मानव, चिर शान्ति कहीं भी पा न सके।
सारे विज्ञानी जन मिल कर, सुख को दुःखरहित बना न सके।।
कुछ लोगों को तप संयम से, अनुकूल शक्ति मिल जाती है।
पर वह भी व्यर्थ गई दिखती, यदि मन को वश में ला न सके।।
जो तन्त्र—मन्त्र, औषधियों से, सब को निरोग कर सकते हैं।
पर इससे क्या! यदि काम, क्रोध, मोहादिक रोग मिटा न सके।।
हमने तुमने इस आकृति का, सुन्दर श्रृंगार किया लेकिन।
यह वृत्ति वेश्याओं की—सी, जब अन्तर प्रकृति सजा न सके।।
जब तक अभिमान प्रबल रहता, तब तक निज दोष न दिखते हैं।
इसकी निवृत्ति कैसे होगी, जब श्रद्धा कहीं टिका न सके।।
ज्ञानोपदेश की धारा में, हम सब का मल धोने निकले।
पर क्या प्रभाव इसका होगा, जब अपना मैल छुड़ा न सके।।
सत् की चर्चा चलती रहती, पर रमण असत् में होता है।
तब पथिक कहां सत्संग हुआ, यदि असत् से प्रीति हटा न सके।।

****

साधन सुयोग

विविध योग में सत्संग, सद्विचार, सन्तोष, सदाचारयुक्त सेवा के साथ ही साधना के सदुपयोग की आवश्यकता है।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्व मनोनिग्रह लक्षणान्तः परोहि योगो मनसः समाधि।।

(श्रीमद्भागवत)

दान, नियम, यम, व्रतादि एवं स्वधर्म पालन का अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान में लग जाय। मन का समाहित हो जाना ही परम योग है।

प्राकृतिक नियम से मानव मात्र साधक है और जो कुछ इस संसार में उसे मिला है वही सब साधन है।

जब मिली हुई शक्ति, योग्यता, सम्पत्ति का दुरुपयोग होता है वही असाधन बन जाता है।

विवेक के द्वारा असाधन को जानना और उसी का त्याग करना साधन का आरम्भ है।

त्याग से साधन शुद्ध होता है, सेवा से साधन सुन्दर होता है, प्रेम से साधन में दिव्यता एवं पूर्णता आती है।

प्रत्येक परिस्थिति साधक सामग्री है इसीलिये उसके सदुपयोग का विवेक प्राप्त करना चाहिये। दुःख सुख का भोगी होना साधन में विघ्न है। असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयत्न करना और साधन के महत्व को भली प्रकार न समझना साधन में विघ्न है। एक सन्त के शब्दों में, साध्य से नित्य सम्बन्ध हो जाता है। बुद्धि योग द्वारा साध्य का ज्ञान होता है और प्रीति योग द्वारा साध्य के प्रति अपनत्व का भाव दृढ़ होता है तभी नित्य सम्बन्ध की अनुभूति होती है।

जिसके द्वारा ग्रहण होता है तथा त्याग होता है जिसके द्वारा ज्ञान होता है एवं प्रेम होता है, प्रवृत्ति होती है, निवृत्ति होती है उसी को साधन कहते हैं।

जो कुछ हम सब को मिला है–शरीर, इन्द्रिय,मन, बुद्धि आदि–वही सब भोग और योग का साधन है।

मिले हुए का सदुपयोग ही अपनी पूर्ति तथा मनोभिलषित सिद्धि प्राप्ति का साधन है।

जिस कामना की अपूर्ति से दुःख मिलता है उसी का त्याग दुःख की निवृत्ति का साधन है।

निष्काम होकर सेवा सुखी के हित का साधन है।

दुर्बलता को दूर करने के लिये तथा शक्ति प्राप्त करने के लिये तप साधन है। (अपने कर्तव्य एवं स्वधर्म–पालन में प्रतिकूलताओं को सह लेना तप है)।

त्याग से शान्ति मिलती है। किसी वस्तु को अपना न मानना त्याग है। त्यागी वही जो कामना, वासना तथा लोभ, मोह, अभिमान से मुक्त हो जिसे त्याग का अभिमान है वह त्यागी नहीं।

पूर्ण अपनत्व के भाव से प्रीति दृढ़ होती है। किसी को अपना मान लेने से प्रीति हो जाती है। निष्काम दान एवं सेवा से पवित्रता, निर्दोषता आती है।

यह गुरु निर्णय है कि अपनी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर न रखने से दीनता मिटती है। सन्त प्रवचन में मैंने सुना था कि मिले हुए शुभ, सुन्दर पदार्थों अथवा सद्‌गुणों को अपना न मानने से अभिमान, अहंकार मिटता है।

सुखोपभोग की कामना उत्पन्न होने पर उसकी पूर्ति का प्रयत्न करते हुए प्राणी नित्य से अनित्य की ओर, आत्मा से देह की ओर, चेतना से जड़ता की ओर, स्वाधीनता से पराधीनता की ओर, शान्ति से अशान्ति की ओर बढ़ता है।

सुखोपभोग की कामना का त्याग करने पर मानव अनित्य से नित्य की ओर, देह से आत्मा की ओर, असत् से सत्य की ओर,

जड़ता से चेतना की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर, अशांति से शांति की ओर लौट आता है।

परमात्मा की ओर से हमें जो कुछ मिलता है उसकी प्राप्ति के लिये मानव सदा स्वतंत्र है, किन्तु संसार से जो कुछ प्राप्त होता है उसके लिये प्राणी सदा परतन्त्र है।

दूसरों को इच्छित दान देने में हम सदा स्वतन्त्र हैं, परन्तु अपनी इच्छानुसार दान लेने में हम सदा परतन्त्र हैं।

विवेकी पुरुष मिले हुए बलों का दूसरों की सेवा में, सहायता में सदुपयोग करता है। वह भोग में दुरुपयोग नहीं करता।

प्रायः बुद्धिमान जिज्ञासु साधन—सम्बन्धी प्रश्न किया करते हैं, उत्तर भी सुन लेते हैं फिर भी साधन का वास्तविक ज्ञान किसी बिरले ही को होता है।

सबसे सुन्दर साधन वही है जिससे दोषों, विकारों की निवृत्ति हो, कामना, वासना तथा इच्छाओं से रहित जीवन हो।

हमको आपको देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि, जो कुछ भी जीवन में मिला है वही साधन है।

जिन साधनों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रस, गन्धादि का भोग होता है वही सेवा के साधन हैं। जिस मन से वस्तुओं तथा व्यक्तियों से

अपनत्व होता है तथा सम्बन्धियों से प्रीति होती है वही मन सत्स्वरूप परमात्मा को अपना मानते हुए उन्हीं से पूर्ण प्रीति का साधन है।

जिस बुद्धि से संसार में जप से पराये का ज्ञान होता है, वस्तुओं के उपार्जन का ज्ञान होता है, वही बुद्धि तत्व ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। जिस सीमित अहंकार द्वारा संसार से सम्बन्ध होता है वही अहं परमात्मा से अभिन्न योग का साधन है।

जप, कीर्तन, पूजा, पाठादि जितने भी क्रियाप्रधान साधन हैं वह तो मिले हुए साधन की शुद्धि के लिये साधन है।

जिन साधकों की साधना घन्टे दो घन्टे अथवा महीने दो महीने में समाप्त होती रहती है वह भक्ति–मुक्ति का साधन नहीं होती। अनुकूलता का राग तथा लोभ एवं अभिमान छोड़ देना क्रोध से मुक्त होने का साधन है।

संयोग में ही वियोग को निश्चित देखना मोह निवृत्ति की साधना है।

परमात्मा का चिन्तन एवं स्थायी ध्यान प्रीति पूर्ण होने की साधना है। आगे या पीछे की चिन्ता तथा मनन का त्याग ही स्थायी ध्यान की साधना है। बुद्धि की स्थिरता, ध्यान की साधन भूमि है।

सुख दुःख के बन्धन से मुक्त रहना ही परमात्मा के चिन्तन की साधन भूमि है। त्याग और प्रेम परमात्मा के योगानुभव की साधन भूमि

है। जब बुद्धि और हृदय में एकता हो जाती है तब सारा जीवन अभीष्ट सिद्धि का साधन बन जाता है। संसार से निराश होकर अपने को सब ओर से हटा लेना आध्यात्मिक उन्नति का साधन है।

तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिये, साधन में सिद्धि पाने के लिये, प्रियतम के योग के लिये संकल्परहित होना उत्तम साधन है।

सभी प्रकार के विचार तथा चिन्तन एवं सम्बन्धों का त्याग ही निःसंकल्प होने का अनुभूत उपाय है।

संयम ही निर्बलता निवृत्ति का साधन है। इन्द्रिय ज्ञान तथा शक्ति का सदुपयोग पुण्य वृद्धि का साधन है।

किसी का त्याग कर, मन से किसी को निकाल कर फिर उस स्थान में कुछ भी न आने देना सत्यानुभव की तैयारी है।

वाणी एवं मन का मौन ही अनन्त वाणी की ध्वनि पकड़ने की साधना है।

आत्मसमर्पण ही मौन की सिद्धि का उपाय है। चाह चिन्तन से रहित होना चिर शांति का उपाय है।

परमेश्वर के नाते सभी को अपना मानना, प्रीति दान में भेद—भाव न रखना, सभी का होकर सभी की सेवा में तत्पर रहना—यही विश्वरूप भगवान की उपासना है।

किसी का सहारा न लेकर एकाकी रहना, किसी को भी अपना न मानना, मन, बुद्धि को आत्मा के निकट रखना—यही आत्मा की उपासना है।

एक को ही चाहना, अन्य किसी की ओर न देखना—यह प्रेम प्रीति की साधना है।

किसी का बुरा न चाहना, पराई वस्तु की इच्छा न करना, जो कुछ भी संसार में जीवन के साथ मिला है उसे अपना न मानना, यह अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय है।

चित्त को किसी से भी सम्बन्धित न रखना, केवल परमात्मा का ही चिन्तन करना—यह भक्ति की साधना है।

साधक की चित्त शुद्धि के लिये सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, सर्वभूत दया, सत्यवादिता, ज्ञान, तप—यह सात मानस तीर्थ हैं।

सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया करने से मन की शुद्धि होती है, बाहर जाती वृत्तियों को अन्तर में किसी केन्द्र पर रोकने से योग केग लिये धारणा शक्ति बढ़ती है। वृत्तियों के शान्त होने पर ही तो योग होता है।

मन मारै तन बस करै, सोधे सकल शरीर।
फिकर फारि कफनी करै, ताका नाम फकीर।।

मैंने सन्त से सुना है—प्रायश्चित से निर्दोषता आती है।

❖व्रत से दोष की उत्पत्ति नहीं होती है।

❖तप से निर्दोषता की पुष्टि होती है।

❖प्रार्थना से दूषित अहंकार का नाश होता है।

वाणी के मौन से शक्ति, मन के मौन से शांति, बुद्धि के मौन से तत्व बोध की प्राप्ति होती है। यह गुरु अनुभूति है।

शास्त्र निर्णय है– योग, तपस्या, संन्यास के द्वारा महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्य लोकादिकों में उत्तम गति होती है।

सन्त ने समझाया– सर्व अवस्थाओं से अलग होकर परमात्मा से भेद न मान कर नित्य जागृति का अनुभव करो।

अपना अनुभव करने के लिये अपने से भिन्न मत देखो। अपने आप में सन्तुष्ट होने से माना हुआ 'मैं' मिट जाता है।

सर्व चिन्तन छोड़कर सच्चिदानन्दघन परम तत्व का अनुभव करो। मैंने पढ़ा था–

मूर्खोदेहाद्यहं बुद्धि– देह में अहं बुद्धि मूर्खता है

उत्पथश्चित्त विक्षेपः– वहिर्मुखता विक्षेप ही कुमार्ग है।

स्वर्ग सत्यगुणोदयः – सत्वगुण की वृद्धि ही साधक के लिये स्वर्ग है

दरिद्रोयस्त्व सन्तुष्टः – जो असन्तुष्ट है वही दरिद्र है।

कृपणोऽजितेन्द्रियः – जो साधक अजितेन्द्रिय है वही कृपण है। निरासक्त विषय विरक्त ही स्वतन्त्र समर्थ है।

हमें सावधान किया गया है कि अध्ययन सत्य का ज्ञान, सत्य का ध्यान, दान, लज्जा, क्षमा, सरलता, शौच, आचार, चित्तशुद्धि, इन्द्रिय जय–साधक में सहायक होते हैं।

साधना कुछ पाने के लिये नहीं होनी चाहिये प्रत्युत छोड़ने के लिये होनी चाहिये, अपने को देखने के लिये होनी चाहिये, दोषों की निवृत्ति के लिये होनी चाहिये।

जीवन में पुरुषार्थ की कमी नहीं है, प्रत्युत कमी है लक्ष्य के ज्ञान की, कमी है मिली हुई शक्ति की तथा योग्यता के सदुपयोग की, और कमी है सदाचार की। एक सन्त से मैंने सुना था–क्रिया शक्ति के सदुपयोग से सेवा हो सकती है।

प्रीति के सदुपयोग से भक्ति सुलभ हो जाती है।

ज्ञान के सदुपयोग से तत्व ज्ञान हो जाता है।

तृष्णा न रहे, वासना छूट जाये, सब के हित में प्रवृत्ति हो, यही साधक का पुरुषार्थ है।

किसी दुर्बलता की निवृत्ति के लिये तथा सेवार्थ शक्ति के लिये एवं मन की शुद्धि के लिये ही तप, व्रतादि की आवश्यकता है।

उचित कार्य एवं कर्तव्य का ज्ञान हो जाने पर भी सोये पड़े रहना और उसके लिये यत्न न करना **कलियुग** है। इसी प्रकार उस कार्य को पूर्ण करने के लिये आलस्य का त्याग करना **द्वापर युग** है। कर्तव्य कर्म में संलग्न होना **त्रेता युग** है। कर्तव्य–कर्म में संलग्न होकर उसे पूर्ण करना **सतयुग** है।

हमें सन्तों के प्रवचनों द्वारा यह भी ज्ञात हो सका कि जिस प्रकार शरीर के मैल धोने का साधन जल है, उसी प्रकार मन की मलीनता दूर करने का साधन तप, दान और ईश्वर स्मरण है।

अहिंसा, इन्द्रिय संयम, जीवों पर दया, क्षमा, मन का संयम, ज्ञान, ध्यान, सत्य में प्रीति–यही परमेश्वर की पूजा के आठ पुष्प हैं, जिनसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

श्रद्धा, संयम, श्रम, सेवा, सत्संग और सावधानी से समय एवं शक्ति का सदुपयोग होता है।

लोभ, अभिमान और सुखोपभोग की कामना के रहते नेता बनने से, ऊँचा पद प्राप्त करने से तथा गुरु बनने से, मनुष्य का पतन हो जाता है। किन्तु आस्तिक, धर्मनिष्ठ, विवेकी, उदार, दानी, विनम्र, निरभिमानी, विरागी, जितेन्द्रिय पुरुष को जब उच्च पद, नेता पद, गुरु पद सुलभ होता है तो उसके उत्थान के साथ अनेक सहयोगियों का कल्याण होता है।

जो मनुष्य उत्साहहीन है, दीन है, शोकाकुल है वह सफलता के पथ में नहीं बढ़ पाता है।

वर्तमान में जितना अधिक अभाव का दुःख होगा उतनी ही अधिक साधना में तीव्रता होगी। **एक सन्त ने समझाया** कि साधन वही उत्तम है जिसमें सन्देह न हो, दृढ़ विश्वास हो, रुचिकर हो और जिससे दोषों की निवृत्ति हो, जिससे हृदय अनुरागी हो, बुद्धि सम हो, मन निर्विकल्प हो।

हमें यह भी गुरु निर्णय मिला कि साधना द्वारा परमात्मा में चित्त जोड़ने का नाम योग है, चित्त को रोकने का नाम भक्ति है और चित्त को लीन करने का नाम मुक्ति है।

मुक्ति के लिये असंगता, भक्ति के लिये अभिन्नता, शक्ति के लिये निस्संकल्पता, प्रीति के लिये अपनत्व भावना आवश्यक है।

जो कुछ दीखता है उसे सत्य न मानने से, सुखद न मानने से, सुन्दर न मानने से, परमेश्वर के प्रति प्रीति सुरक्षित होगी। जहां प्रीति होती है वहीं सर्वोपरि सुन्दर दीखता है, वहीं मन लगता है। संसार में कुछ भी सुन्दर नहीं है, प्रीति सुन्दर है।

3 मिनट मन को रोकने से धारणा, 12 मिनट मन रोकने से ध्यान और 30 मिनट मन रोकने से समाधि हो जाती है।

अपने से भिन्न जो कुछ है उसे न देखने से अपना अनुभव होता है। अपने आपको जानना ही आत्म–ज्ञान है, स्वानुभव है।

सब प्रकार के चिन्तन का त्याग होने पर योग हो जाता है।

सब से असंग होने पर अपने आप में स्थिति हो जाती है।

जो अपने प्रेमास्पद प्रभु को अपने से भिन्न नहीं देखता वही चाह तथा चिन्तन से रहित हो पाता है।

किसी प्रकार का चिन्तन न करना अन्तिम साधन है। निःसंकल्पता आने पर सत् का योगानुभव और असत् से सम्बन्ध विच्छेद स्वतः हो जाता है। संसार में सभी सम्बन्ध माने हुए हैं।

सम्बन्ध जोड़ने और तोड़ने में मनुष्य सदा स्वतन्त्र है। सन्त ने पूछा—सोच कर देखो! तुम्हारा होकर कोई कब तक प्रसन्न रह सकेगा? तुम किसी के होकर कब तक प्रसन्न रह सकोगे?

अप्राप्त का चिन्तन छोड़ दो, जो मिला है उसे अपना न मानो—इससे सम्बन्ध टूट जायगा।

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुवाँ बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई शाहन्साह।।

पकड़े हुए को छोड़ दो, यही मुक्ति का साधन है।

संसार से जो लेना है वह छोड़ दो, जो देना है वह दे दो—यही स्वतंत्र होने का साधन है।

जिसके मन में संग है वही बन्धन में है। जब तक अहंकार है तब तक बन्धन है, जहाँ अहंकार की सीमा समाप्त होती है वहीं बन्धन समाप्त होता है।

साधक के लिये बुद्धियोगी होना परमावश्यक है। बुद्धियोग द्वारा अहंकार का परिचय मिलता है।

यो वै वाड. मनसौ सम्यग संयच्छन्धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्त्रवत्याम घटाम्बुवत।।

जो साधक बुद्धि द्वारा वाणी और मन को वश में नहीं कर लेता उसके व्रत, तप, दान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं जैसे कच्चे घड़े में भरा जल।

जो विषयों का चिन्तन करता है उसका चित्त विषयें में फंस जाता है और जो परमात्मा का स्मरण करता है उसका चित्त परमात्मा, भगवान में तल्लीन हो जाता है।

परमात्मा से अपना नित्य सम्बन्ध अनुभव करते हुए तन, मन से निष्काम सेवा करते रहो—यही सुन्दर भजन है।

आत्महित से लोकहित भवहित तथा,
भूतहित में जो मनुज अनुरक्त हो।
मान भव को मूर्ति विभु की विभु—सहित,
जो मनुज भवभूतियों का भक्त हो।
तो बनाकर जन्म अपना वह सफल,
कर सकेगा दिव्यतम आराधना।
है यही कृति सर्व सिद्धि प्रदायनी,
है यही विधि बद्ध सच्ची साधना।

अपने कर्त्तव्यपालन से जो भी कष्ट सामने आयें, उन्हें धैर्य से सह लेना चाहिये और यही सोचना चाहिये कि अपने भीतर निकृष्ट स्वभाव है, कहीं स्वार्थपरता छिपी है तभी कष्ट की प्रतीति होती है।

अपने निम्न व्यक्तित्व को कष्ट होता है, अहंकार को ही दुःख भोगना पड़ता है।

'अहं मम' के भीतर दोषों का चिन्तन करना मानो उनकी पुष्टि करना है और क्षुभित होते रहना है इसीलिये दैवी सम्पदा का चिन्तन करो।

यह गुरु आज्ञा है कि दोषों का चिन्तन न करो, उसके स्थान में किसी सेवा कार्य को पकड़ लो।

बीती बातों की चिन्ता मत करो, किन्तु वर्तमान में अच्छे कार्य करने के लिये सदा तैयार रहो। यह सोचना व्यर्थ है कि 'मैंने अमुक कार्य न किया होता तो अच्छा होता।'

जिन बातों को तुम अपनी स्मृति में रहने देते हो उसके लिये बहुत ही सावधान रहना चाहिये। अपनी स्मृति में सारहीन दृश्य न भरो, केवल आवश्यक बातों को ही ध्यान दो।

तुम किसी के अप्रिय वचन को भूल जाओ, अनादर को भूल जाओ, तमाम दुःख कष्ट की बातों को स्मृति में ग्रहण न करो। पवित्र प्रेम का, दैवी गुणों का एवं चैतन्य स्वरूप का ध्यान करो।

सर्वत्र दया, कृपा, सदगुण, सेवा, शिष्टाचार की विधि, उदारता, दान को जो दूसरों में देखा है, उन्हें स्मृति में रक्खो वैसा ही अपना स्वभाव बना लो।

जब मनुष्य उपदेश और उदाहरण दोनों से ही शिक्षा ग्रहण नहीं करता है तब उन नियमों का उल्लंघन करने से जो कष्ट मिलता है उसके द्वारा उसे शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। सत्य की खोज के लिये दुःख विवश कर देता है।

तुम अपनी इच्छाओं के साथ अभिन्नता स्थापित न करो। यह परिवर्तनशील चित्तवृत्तियाँ तथा इच्छायें तुम नहीं हो, वे तो वासना शरीर के बदलते रहने वाले कम्पनमात्र हैं, जिनकी जागृति वाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से होती है।

निर्मल होने के लिये दूसरों के अधिकारों की रक्षा करो।

निर्दोष बनने के लिये अपने अधिकार का त्याग करो।

यदि उच्च भोगों की चाह है तो श्रमी, संयमी, सदाचारी होकर सेवा करो। पुण्य कर्म करो। तप करो।

आलस्य और विलासिता, श्रम, संयम में बाधक है अतः इनका त्याग करो।

दूसरों से सेवा लेने से, शासन करने से, धन संग्रह करने से आलस्य विलास का रोग बढ़ता है, इसी से दुराचार में प्रवृत्ति होती है। तुममें भी यही रोग तो नहीं बढ़ गया है?

अपने कर्त्तव्य में सावधान रहने के लिए प्रत्येक कार्य को कुशलतापूर्वक करो और भाव को पवित्र रक्खों, साथ ही लक्ष्य को

कभी न भूलो। लक्ष्य से ही पूर्ण प्रीति करो तभी लक्ष्य तक पहुँचोगे, बुद्धियोग के बिना ऐसा होना असम्भव है।

प्रतिकूलताओं के कष्ट को शान्त रहकर सह लेने से और सावधान रहकर कर्म करने से प्रभु के मंगलमय विधान का बोध होता है, विधान का बोध होने से सदा चित्त शान्त रहता है, परन्तु अवसर पर स्मरण रखना कठिन है।

क्रिया के साथ विधि का, विधि के साथ पवित्र भाव का, भाव के साथ विवेक का, विवेक के साथ प्रेम और प्रेम के पीछे परमेश्वर का योग प्राप्त करना परम साधन है।

कर्मयोगी, आवश्यक संकल्पों की पूर्ति तथा अनावश्यक संकल्पों के त्याग के लिये सावधान रहता है।

आवश्यक संकल्प वहीं है जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके साधन सुलभ हों तथा जिससे किसी का अहित न हो।

त्यागने योग्य संकल्प वहीं है जिसकी पूर्ति वर्तमान में न हो सकती हो, जिससे किसी के अहित होने की सम्भावना हो।

यह गुरु निर्णय है—गुणों का विकास, मर्यादित भोग, दूसरों की सेवा और दोषों का त्याग—ये चार कर्त्तव्य जीवने में ही पूरे होते हैं।

सन्त के प्रवचन में मैंने सुना था कि संयोग में ही वियोग को देखो। जीवन में मृत्यु को देखो। प्राप्त वस्तु, योग्यता तथा शक्ति का सदुपयोग करो। अप्राप्त का चिन्तन न करो। जो कुछ दीख रहा है

उसे सत्य न मानो। वर्तमान कार्य को भविष्य पर न छोड़ो। ममता, लोभ, मोहादि का त्याग करना वर्तमान का कार्य है। परिस्थिति का सुदपयोग, विवेक का आदर, जाने हुए दोषों का त्याग, प्रेमपात्र पर विश्वास, उससे नित्य सम्बन्ध वर्तमान में ही कर्तव्य है। नर्स की भांति श्रम–संयम सदाचारपूर्वक मोह रहित होकर सेवा करते हुए कर्मयोगी बनो।

समस्त प्रीति प्रभु में ही लगाकर प्रभु को नित्य प्राप्त जान कर भक्तियोगी बनो।

यात्री की भांति सबसे असंग रह कर ज्ञानयोगी बनो। यह संत की सम्मति है। ज्ञानयोग द्वारा जीवन में पूर्णता प्राप्त करने के लिये यदि तुम अपने जीवन द्वारा दूसरों का हित करना चाहते हो तो अपने चित्त को काम, क्रोध, आलस्य, भ्रान्ति, संशय से मुक्त रख कर अपना तथा पराया हित कर सकते हो।

असत् के राग का त्याग वर्तमान में ही हो सकता है।

असत् के त्याग में ही सत्य का अनुभव होता है।

जब अपने को असत् से मिलाकर मैं मानते हैं, तभी देखे हुए, माने हुए के प्रति आसक्ति हो जाती है।

आसक्ति के कारण ही मिले हुए का सदुपयोग नहीं हो पाता, अपने कर्तव्य का सही ज्ञान नहीं होता।

अनुकूलता का लालच, प्रतिकूलता का भय ही, मनुष्य को भयातुर क्षुभित कर देता है, इसीलिये बुद्धि स्थिर नहीं रहती।

लालच–लोभ के रहते कोई स्वाधीन नहीं, भय रहते कहीं चिरशान्ति नहीं, अतः लोभ तथा भय के कारण को जानकर असत् के राग का त्याग करना चाहिये, केवल सत् से ही अनुराग करना चाहिये–यही सन्त सम्मति है।

हरे चरहिं तापहि बरे, फरे पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब, परमारथ रघुनाथ।।

परमार्थ सिद्धि चाहने वाले को–गृह सम्बन्धी किसी कार्य में आनन्द न मानना चाहिये। व्यर्थ बकवाद में, प्रपंच में, नींद में तथा प्रेमीजनों के साथ आमोद–प्रमोद में आनन्द न मानना चाहिये। दुर्व्यसन के वश में न रहना चाहिये। कुसंग में न पड़ना चाहिये। समाधि या ध्यानाभ्यास की स्वल्पसिद्धि में सन्तुष्ट न होना चाहिये। दूसरों की त्रुटि न देखते रहना चाहिये।

प्रेमी जिज्ञासुओं! तुम अपने जीवन में प्रेम के रूप में, शुद्ध चैतन्य के रूप में तथा ज्ञान के रूप में परमेश्वर का अनुभव करो।

तुम उस प्रेम का आदर करो जो शुद्ध संकल्प की प्रेरणा देता है।

तुम उस शुद्ध संकल्प का आदर करो जो तुम्हें ज्ञान की ओर ले जाता है, परतन्त्र पराश्रित नहीं बनाता है।

तुम उस ज्ञान का आदर करो जो तुम्हें सेवा के योग्य बनाता है, पराधीनता से मुक्त करता है।

परमात्मा ही प्रथम शिव चेतनास्वरूप में, द्वितीय विष्णु चेतनास्वरूप में और तृतीय ब्रह्मा की चेतनास्वरूप में समस्त विश्व के परमाश्रय है।

अपनी अहंता को परमात्मा में लीन करना ही भक्ति योग है अथवा मन को हृदय निवासी आत्मा में लगाना भक्ति योग की साधना है।

साधक में जब कोई कमी प्रतीत न हो तभी पूर्ण सिद्धि समझनी चाहिये। तुम जहां कहीं कमी का अनुभव करो, वहीं अपने भीतर दोष को खोजो और उसे दूर करो।

तुम्हारे साथ जो कुछ भी प्रतिकूल घटना घट जाये उसे अपने ही किसी कर्म का परिणाम समझो और धैर्य एवं प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लो। जो व्यक्ति प्रतिकूलताओं को मूर्खतापूर्वक सहन करते हुये अन्य किसी को दुःख देते हैं, वे ही असीम दुःख, शोक, चिन्ताओं से घिर जाते हैं। सन्त ने हमें समझाया कि पूर्व कर्म के प्रतिफल भोग को सहन करने की विधि से ही तुम्हारे चरित्र में अधिक से अधिक पवित्रता आती जायेगी।

प्रतिकूल परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिये विवेक, वैराग्य, सदाचार और ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

तुम गुणों के विकास में ही सन्तोष न करो, वरन् ज्ञान को बढ़ाते जाओ। साथ ही ज्ञान के अभिमान को घोर अज्ञान समझो। आध्यात्मिक उन्नति चाहने वाले साधक के जीवन में समस्त प्रतिकूलतायें एक उन्नति का एवं गुण विकास का अवसर उपस्थित करती हैं।

अनुकूल वातावरण में तो साधारण जन भी सज्जनता का व्यवहार करते हुए शान्त, प्रसन्न रहते हैं किन्तु साधक के जीवन में सद्‌गुण विकास एवं दोषों के नाश करने के वहीं अवसर हैं जहां प्रतिकूल वातावरण हो, जहां उसके साथ अनुचित बर्ताव किया जा रहा हो।

कठिनाइयों, प्रलोभनों के समय साधक को अधिक सावधान रह कर गुणों का ही पक्ष लेना चाहिए। ईर्ष्या, क्रोधादि विकारों के वशीभूत न होना चाहिए।

साधक को किसी की दुर्भावना का बदला सद्भावना से चुकाना चाहिए। यदि साधक में किसी दोष की प्रधानता हो तो प्रातःकाल उसके विपरीत गुण का ही नित्य ध्यान करना आवश्यक है।

यदि क्रोध आता हो, स्वभाव में चिड़चिड़ापन हो तो क्षमा, धैर्य का चिन्तन नित्य करते रहने से दोष सद्‌गुण में बदल जाता है। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करते रहने से जब कभी विरोधी व्यक्ति का सामना होगा तब साधक भूल करने के प्रथम ही अपने मन के अनुचित वेग

को वश में कर लेगा। ऐसा करते–करते क्षमा करना, शांत रहना, प्रसन्न रहना स्वभाव अर्थात् सहज कर्म बन जायगा।

साधक का विधिवत प्रयत्न–चाहे वह कम ही क्यों न हो–व्यर्थ नहीं जाता। जिस प्रकार एक यात्री ठीक मार्ग जितना चल लेता है उतना मार्ग कम ही होता जाता है। भले ही उसे गन्तव्य स्थान (लक्ष्य स्थान) न दीख पड़े फिर भी वह लक्ष्य के निकट होता जाता है। उसी प्रकार साधक अपनी साधना में श्रम करते हुए सिद्धि की ओर बढ़ता ही जाता है।

जिस गुण का साधक नियम से चिन्तन करेगा वही गुण उसमें आ जायेगा क्योंकि चिन्तन के अनुरूप ही चित्त का रूप बन जाता है।

किसी बुराई को, दोष को बार–बार ध्यान में न लाना चाहिये, न उससे संघर्ष करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर वह बुराई और अधिक उत्तेजित होती है।

किसी प्रेमी साधक को जब तक किसी भावना से ठेस लगती है, आघात लगता है, तब तक वह साधक अपने ही विषय में अधिक विचार करता है। किन्तु जो प्रेमी साधक अपने आराध्य प्रभु के समर्पित हो जाता है, उसे अपने विषय में चिन्ता करने का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

प्रेमी और बुद्धिमान साधक वहीं है जो अपना अनादर समझ कर भी ध्यान ही नहीं देता, स्तुति, निन्दा को धूल की भांति झाड़ देता है।

निन्दा करने वाले संसार में सृष्टि के आरम्भ से ही चले आ रहे हैं और तब तक वे निन्दा करते ही रहेंगे जब तक परमार्थ पथ में चलकर जीवनमुक्ति के द्वारा निकट न पहुँचेंगे।

किसी व्यक्ति की निन्दा बुराई की जाती है, किन्तु उसे तब तक दुःख नहीं होता जब तक स्वयं सुनता नहीं है। इससे यही सिद्ध हुआ कि निन्दा करने वाला दुःख का कारण नहीं है बल्कि सुनने वाला जब उसका अर्थ लगाता है तब वह अर्थ ही दुःख का कारण है। अर्थ तभी अनर्थकारी प्रतीत होता है जब अभिमान प्रबल होता है।

प्रेमी साधक को दूसरों के प्रति विचार करते समय पूर्ण उदार होना चाहिये और दूसरों के दोषों को देख कर उसके पीछे रहने वाली विवशता को जानना चाहिये जिसके द्वारा विवश होकर कोई दुष्कर्म कर बैठता है। प्रत्येक दोषी दया का पात्र है, वह दया दण्ड के पीछे भी रहनी चाहिये।

अपने को दूसरों से भिन्न मानना–यही भूल सब कष्टों, दुःखों एवं दोषों का कारण बनती है। आत्मज्ञान बिना भिन्नता नहीं मिटती।

एकता की अनुभूति में समस्त भलाइयां भरी हैं और भिन्नता में ही सारी बुराइयां छिपी हैं।

बुद्धियोगी के कर्म भोग के लिये नहीं होते, योग के लिये होते हैं।

कभी कोई भूल हो जाये, यह आश्चर्य की बात नहीं है। किसी भी व्यक्ति से भूल हो सकती है, परन्तु जो मनुष्य बार–बार भूल को दुहराता है वह मूर्खता करता है।

एक सन्त के कथनानुसार–भूल का प्रायश्चित यही है कि उस भूल को न दुहराने का दृढ़ संकल्प कर लिया जाय और उस संकल्प को कहीं शिथिल न होने दें।

प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक शरीर अपने को दूसरों से भिन्न मानता है और वही अभिमानपूर्वक अपना विचार अधिक रखता है, दूसरों को कम रखता है।

मनस एक प्रबल शक्ति है। यह मानव में अन्य सभी शक्तियों से अधिक बलवान है, मनस–कार्यों में प्रतिक्षण नियन्त्रण रखना कठिन है। फिर भी साधक को अपनी उन्नति के लिये नियन्त्रण करना ही चाहिये।

मनस की अगाध शक्ति पर साधक अधिकार कर सकता है; चाहे वह निर्धन हो या धनवान, युवा हो या वृद्ध, नर हो या नारी।

मनस की वासना–पथ़ में खर्च होने वाली शक्ति नियन्त्रित होकर परम प्रभु की सेवा का साधन बन जाती है।

बहुत सेवा के कार्य ऐसे हैं जो विचारों द्वारा पूर्ण किये जा सकते हैं।

किसी को स्नेह की आवश्यकता है तो उसके लिये स्नेहपूर्ण विचार भेजना धन के उपहार से कहीं अधिक सहायक होगा। ऐसा करना ध्यानयोगी के लिये ही सम्भव है।

प्रेमी साधक को अपने कर्म, विचार तथा भावनाओं को पवित्र निःस्वार्थ बनाकर मनुष्य जाति के लिये उत्तरोत्तर उपयोगी तथा सर्वहितैषी बनाते जाना है। प्रेमी साधक जब अपने सुख की इच्छा का त्याग कर देता है तब अपने द्वारा होने वाली सेवा के परिणाम को देखने की उत्सुकता रहती है—यह भी एक इच्छा ही है। कभी—कभी अपने द्वारा होने वाली सेवाओं के पीछे सेवक साधक प्रेमी अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है—यह भी एक प्रकार का सौदा है।

बुद्धिमान साधक प्रेमी वही है जो एक सेवा कार्य समाप्त होने पर दूसरा सेवा कार्य पकड़ लेता है। वह परिणाम पर दृष्टि नहीं रखता। वह कर्म का भोगी न बनकर कर्मयोगी होता है।

एक नर्स (रोगियों की सेविका) एक रोगी का विधिवत सेवा, उपचार करने के पश्चात् दूसरे रोगी की सेवा करने लगती है। वह परिणाम को देखने के लिए ठहरती नहीं है क्योंकि परिणाम बिना प्रतीक्षा के ही स्वतः समयानुसार सामने आ ही जाता है।

अपने प्रयत्नों को सफल देखने की उत्सुकता, अधीरता और सफल होने पर हर्षोल्लास, साधारण मनुष्यों की प्रकृति में ही ऐसे लक्षण मिलते हैं। विवेकी साधक को इस दुर्बलता से ऊपर उठना प्रिय लगता है।

जिसे ईश्वरीय नियम, विधान पर विश्वास है वह अपना कर्तव्य पूर्ण करता जाता है। परिणाम दर्शन के लिए कहीं नहीं ठहरता है। वह सदा निश्चिन्त निर्भय रहता है।

प्रेमी साधक के लिये यही सन्तोष की बात नहीं है कि वह दूसरों की निष्काम सेवा करता है क्योंकि उसे सेवा करने के अभिमान से भी शून्य रहना है। यह तभी सम्भव है जब सबको परमेश्वर का मानकर सभी से प्रेम करना अपना स्वभाव बना लेगा।

जिसकी सेवा तथा साधन के पीछे सुविधि तथा सद्भाव एवं यथार्थ विवेक और निष्काम प्रेम का योग होता है वह कहीं निराश नहीं होता। **समस्त निराशाओं का कारण फल की कामना ही है।**

जहाँ फल की कामना नहीं रहती वहाँ कार्य पूर्ण करते रहने की धुन रहती है। फलाशा में ही निराशा का दर्शन होता है।

एक प्रेमी साधक साधनाभ्यास द्वारा ऊँची शक्ति प्राप्त करने के लिए उद्यत है। उसकी अपेक्षा वह साधक अधिक सुरक्षित गति से उन्नति करता जायेगा जो प्राप्त शक्ति का सेवा में सदुपयोग कर रहा है, किन्तु किसी फल भोग की रुचि नहीं रखता है।

जो कोई मिली हुई शक्ति का सेवा में सदुपयोग करता है उसे अधिकाधिक ऊँची शक्तियाँ अनायास ही मिलती जाती हैं जबकि शक्ति का उपयोग न करने वालों से वही शक्ति छिन जाती है और भोग करने वालों के जीवन में भी वही शक्ति खो जाती है।

शक्तिदाता स्वामी किसी व्यक्ति की योग्यता को नहीं देखते वरन् उसकी उपयोगिता को देखते हैं। जिस प्रकार की शक्ति का जहां सदुपयोग हो सकता है वहां बिना मांगे ही प्रदान करते हैं।

जिन बलों का प्रेमी साधक सेवा में सदुपयोग न कर सके उनसे रहित होना ही साधक के लिये अति उत्तम है।

जो शक्ति बुद्धिमान मनुष्य को प्राप्त है उसका यदि वह पूर्णतया उपयोग नहीं करता तो उसे अन्य शक्तियों की प्राप्ति में समर्थ प्रभु सहायता नहीं दे सकेंगे वरन् वे प्रतीक्षा करेंगे कि प्रेमी साधक में निष्काम सेवा की भावना इतनी प्रबल हो जाय जिससे वह प्राप्त शक्ति का पूर्णतया उपयोग कर सके।

वह कर्मयोगी साधक बहुत आगे बढ़ चुका है, उसे ईश्वर की कृपा से गम्भीरता गुण सुलभ हो रहा है जो कभी अपने को श्रेष्ठ दिखाने की, चतुर ज्ञानी सिद्ध होने की इच्छा नहीं रखता; जबकि अनेक मनुष्य अपनी सुविधाओं के लिए; गुणवान प्रकट होते देख कर परम सन्तुष्ट रहते हैं।

वास्तव में जो महान् की शरण लेता है, महान् प्रभु का प्रेमी भक्त होता है, वही अपने में अपनी महत्ता स्वीकार न करे हुए सरल विनम्र रहता है। गुरु ज्ञान प्रकाश में अपने को देखने वाले साधक अहंकार से, अभिमान से रहित हो जाते हैं।

साधक के लिये अधिक बोलना अच्छा नहीं होता। उतना ही बोलना चाहिये जो सत्य हो, प्रिय हो, साथ ही हितकर हो। जब तक ऐसी तैयारी न हो जाए, तब तक मौन रहना ही उत्तम है।

अधिक वार्ता करने वाले मनुष्य अपनी उन शक्तियों को व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं जिन्हें आवश्यक हितकर कार्यों में लगाना चाहिये। **अधिक बातें करने वाला मनुष्य प्रायः अच्छा कार्यकर्ता नहीं होता।**

व्यर्थ बातों के बीच में पराई निन्दा आ जाने पर अपना अनिष्ट ही होता है।

निरर्थक वार्ता, भविष्य की चिन्ता, भूतकाल की घटनाओं का लौट–लौट कर स्मरण तथा क्रोधादि विकारों में शक्ति, समय का दुरुपयोग करना गुरु ज्ञान का अनादर करना है, योग सिद्धि के साधक को सदा सावधान रहना चाहिये।

वाणी को वश में रखना बहुत बड़ी सफलता है। साधक को सदा सावधान रहकर वाणी पर संयम रखना चाहिये।

असंयमित वाणी बुराइयों की खान बन जाती है। इसी से क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष की आग उत्पन्न होती है जो कि अपने स्थान को जलाते हुए निकटस्थ पात्रों को तपायमान करती है।

अनेक छोटी–छोटी बीमारियां अधिक बोलने वालों को दबाये रहती हैं जो कि मौन रहने से ठीक होने लगती हैं।

साधक को प्रातः उठते ही व्यर्थ वाक्य न बोलने का व्रत लेना चाहिये और दिन भर स्मरण रखना चाहिये।

अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें अपने बोलते रहने का ज्ञान ही नहीं होता। जब तक कोई शुभचिन्तक स्मरण न दिलाये तब तक सार्थक बोलने का व्रत लेकर भी व्यर्थ बोलते रहते हैं।

उद्योग एवं परिश्रम से रहित जीवन व्यतीत करना साधक के लिये सौभाग्य की बात नहीं है क्योंकि जो सफलता कुछ वर्षों में हो सकती है उसके लिये कई जन्म बिताने पड़ेंगे।

परमार्थी साधक को मन, वाणी के संयम में अनेक बार असफल होकर भी प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिये। जितना अधिक मैल जमा होता है, उतना ही अधिक कठोर घर्षण करना पड़ता है।

कभी–कभी चुप रहने से दूसरे व्यक्ति मितभाषी, साधक को अभिमानी, मनहूस समझने लगते हैं। कहीं–कहीं दूसरे की प्रसन्नतार्थ अनिच्छा से ही बोलना पड़ता है, परन्तु विचारशील पुरुष मौन रह कर भी एक–दूसरे से मिलकर तृप्ति का आस्वादन कर सकते हैं।

यह गुरु अनुभूति है कि वाचाल मनुष्य प्रायः बुद्धिमान नहीं होते। कदाचित, अनेकों धर्मोपदेशक अधिक बोलते हुए दीखते हैं परन्तु उनमें भी जो पहले अधिक समय तक मितभाषी रह कर मनन कर चुके हैं उनके उपदेश में उनकी अपेक्षा जो सदा से ही अधिक बोलते आ रहे हैं, अधिक प्रभाव रहता है। किसी कवि ने कहा है–

दूना सुन आधा कहो, सीखों प्रकृति विवेक।
कान दिये दो ईश ने, जिह्वा बख्शी एक।।

साधक को मत सम्प्रदाय के विषय में अपना समझा सत्य, समझाने के लिये विवाद में नहीं उलझना चाहिए। दूसरों के मत को संशोधित करना, प्रत्येक मनुष्य की भूलों को सुधारना कर्मयोगी साधक का कार्य नहीं है।

साधकों के लिये यही गुरु आज्ञा है कि शान्तिपूर्वक यथाशक्ति दूसरों की सामयिक सहायता करता रहे और जब कोई अपने विषय में सम्मति चाहे तब संयमपूर्वक अपने विचार प्रगट करे, किन्तु विरोध के भाव से उत्तेजित होकर वार्ता न करे।

साधक का कर्त्तव्य है कि जो कुछ इन्द्रिय दृष्टि से प्रतीत होता है उसके कारण का बुद्धि दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करे। दोषों की निवृत्ति के लिये सतत् प्रयत्न एवं साहस से काम ले। शुभ के योग के लिये दृढ़ संकल्प करे और शुभ संकल्प की सिद्धि मिलने पर शक्ति का सदुपयोग करते हुए उस सम्बन्ध में मौन रहे—ऐसा करने से साधक को परम शान्ति सुलभ होती है।

यह भी गुरु अनुभूति है कि हम किसी मनुष्य को उस मार्ग पर चलने में सहायता नहीं दे सकते जिस पर चलने के लिये वह पहले से ही तैयार न हो चुका हो।

किसी की भूल को एकान्त में ही समझना आवश्यक सिद्ध हुआ है। किसी भूल की चर्चा तीसरे मनुष्य के सामने करना अतिशय दुष्ट कर्म है।

किसी सहायता पात्र व्यक्ति की सहायता करनी है तो मित्रतापूर्वक ढंग से करनी चाहिये।

जहाँ कहीं दुर्बलता है वहाँ स्वयं रक्षा नहीं हो सकती। अतः शक्तिशाली मनुष्य को दुर्बल, बालक, स्त्री तथा पशु की रक्षा करना कर्त्तव्य है।

कर्मयोगी साधक को स्वार्थ का पूर्णतया त्याग करना चाहिये। स्वार्थ के अनेक रूपों की पहिचान लेने की योग्यता होनी चाहिये। स्वार्थ के किसी एक रूप को निर्मूल कर देने पर उतनी ही प्रबलता से वह दूसरे रूप में प्रकट हो जाता है।

कामना तथा लोभ का त्याग करके सेवा करने से स्वार्थ का अन्त हो जाता है।

साधारणतया लोग जिसे प्रेम कहते हैं वह स्वार्थ के अनेकं आवरणों के भीतर नाममात्र का ही प्रेम होता है।

साधक अपने विचारों का निरोध करके अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्तम बातों की ओर लगा देता है। इसीलिये वह अवगुणों की पुष्टि से बच जाता है।

अपने से सम्बन्धित वस्तुओं, व्यक्तियों के लिये शोक करना स्वार्थपरायणता है। इसी से मनुष्य दुःखी होता है।

कर्मयोगी साधक को चाहिये कि बदला चाहे बिना दूसरों की सेवा के अवसर पकड़े।

ध्यानयोगी साधक में जब तक इच्छायें शान्त न होंगी, तब तक एकाग्रतापूर्वक ध्यान नहीं हो सकता। फिर भी नियमित रूप से ध्यानाभ्यास करने पर धीरे–धीरे इन इच्छाओं के पीछे आत्मा का अनुभव होने लगता है।

जिस दृढ़ संकल्प से मनुष्य सांसारिक काम करता है, अपनी प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिये अथक परिश्रम करता है, उतना ही दृढ़ संकल्प यदि सत्य मार्ग पर कार्य करते हुए रक्खे तो अवश्य सफलता सुलभ हो जाती है।

बहुत से व्यक्ति संसार के बन्धन से छूटना चाहते हैं, विरागी होना चाहते हैं, किन्तु विषय सुखों में, अनित्य रसों में सदा लिप्त रहते हैं, उनके अभाव में दुःखी रहते हैं। ऐसे व्यक्ति सच्चे हृदय से विरक्त नहीं होना चाहते, केवल विचार मात्र रखते हैं।

गीता का उपदेश है कि जो कुछ बुद्धिमान मनुष्य को प्राप्त है उसी में वह सन्तुष्ट रहे। साथ ही उसे अपना न मानकर परमेश्वर के विधान से मिला हुआ जानकर सब कुछ का सदुपयोग सेवा में करता रहे। उसके अतिरिक्त वस्तुओं की लालसा में अपना समय एवं शक्ति नष्ट न करे सत्य का ही चिन्तन करता रहे। आचार्य का आदेश है कि

यदि तुम विवेकी साधक हो तो अपने काम से काम रक्खो, दूसरे पर अधिकार न जमाओ, दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करो, सबको कर्त्तव्य न सुझाते रहो, यह सब काम उन्हें करने दो जो अधिकार एवं सत्ता के भूखे हैं।

तुम्हारा अपना कर्त्तव्य यही है कि अपने कार्यों को सुचारु रूप से पूर्ण करो क्योंकि तुम इसके लिये उत्तरदायी हो।

मानवीय उन्नति के क्रम में वीरता, धीरता और सहनशीलता की परीक्षायें होती हैं। साधक को सदा सावधान होकर तैयार रहना चाहिये। कोई दुर्बल हृदयवाला व्यक्ति साधना में उन्नति नहीं कर सकता जब तक उसमें निर्भयता और सहनशीलता के साथ अदम्य उत्साह एवं अटूट साहस न आ जाय, तब तक उसे अपनी मनःस्थिति में ही चक्कर लगाते रहना होगा।

जिन्होंने ईश्वरीय विधान को समझ लिया है वे सभी प्रकार की अवस्थाओं में शान्त और उद्वेग से रहित रहते हैं, उनके लिये लक्ष्य की प्राप्ति में गुरु कृपा सदा साथ रहती है।

तुम प्रतिकूल अवसर पर धैर्य को न छोड़ो, भय एवं चिन्ता को हटाते चलो। चिन्ता ही मनुष्य को जर्जर बनाती है, अतः सदा परमेश्वर के विधान का आदर करते हुए निश्चिन्त रहो। तुम अपने चैतन्य स्वरूप को जानो जहाँ कष्ट, दुःख, मृत्यु की पहँच हो ही नहीं सकती।

सुख–दुःख द्वन्द्वों की वेदना मन तक पहुँचती है। यदि तुम बुद्धि को तटस्थ रखकर अपने से भिन्न उसे देखते रहो तो जो कुछ भी आता दीखता है वही जाता हुआ दीखने लगेगा क्योंकि रहता कुछ भी नहीं।

अनेक भले आदमी बीती हुई घटनाओं को सोचकर अपना जीवन भार बना देते हैं। जिस समय शक्ति के द्वारा सेवा एवं पुण्य कर्म कर सकते थे, उसे व्यर्थ चिन्तन में नष्ट करते हैं।

प्रेमी को अपने प्रियतम का, भक्त को अपने भगवान् का कार्य करने के लिये बाधा डालने वाले प्रत्येक बन्धन को सतत प्रयत्न करके काट डालना चाहिये।

कोई भी साधक, प्रेमी तथा भक्त अपनी साधना में सेवा कार्य में यदि कभी दुःखी होता है तो समझ लेना चाहिये उसके मन में कहीं स्वार्थ विद्यमान है जिसे अवश्य ही दूर करना होगा।

स्वार्थ–सुख से मुक्त होते ही साधक की साधना, प्रेमी की प्रीति भक्त की भावना–शक्ति से भरपूर हो जाती है।

कोई भी साधक, प्रेमी या भक्त अपनी रुचि की पूर्ति का पक्ष लेते ही पुनः वहीं लौटने लगता है जहाँ से चला था।

त्याग से ही सबकी उन्नति होती है। प्रेम की पूर्णता में ही त्याग होता है।

जो अपनी उन्नति के पथ में धीरे–धीरे गति चाहते हैं वे भले ही अपने मन की पूर्ति का रस लेते हुए चलें, किन्तु जिन्हें तीव्र गति से उन्नति के शिखर पर पहुँचना है उन्हें उतनी ही सावधानी से लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए प्रयत्न करना होगा।

साधक के मन में जब किसी से मिलने की इच्छा हो, कहीं घूमने की इच्छा हो कहीं कुछ पाने की लालसा हो तो उसको मन की बात नहीं माननी चाहिये।

भक्त को, साधक को शक्तिपूर्वक योग्यता तथा कौशल से भीतर से सभी सम्बन्धियों एवं वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कर पूर्व की भांति सबके प्रति अपना कर्त्तव्यपालन करते रहना चाहिये लेकिन अपने लिये किसी से कोई आशा न रखना चाहिये। आशा रखकर जो मिलेगा वह रहेगा नहीं।

जो पूर्ण संयमी शक्तिशाली पुरुष हैं वे ही विकास की दुर्गम सर्वोच्च श्रेणी में शीघ्रतापूर्वक पहुंच जाते हैं।

कोई साधक, प्रेमी अपने पथ में रुकता है तो केवल स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के कारण अथवा सुखासक्ति के कारण रुकता है और जिसके भीतर जितनी शीघ्रता से त्याग का बल होता है, वही बिना रुके ही लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

जब तुम्हें शारीरिक कष्ट हो तो बार–बार विचार करो कि 'शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा वाहन है'। शरीर से अपने को भिन्न मानकर

उस वेदना को देखो, ऐसा करने से आपको उतना अधिक कष्ट प्रतीत न होगा।

मानसिक दुःखों का अन्त भी विचार के ही द्वारा हो सकता है। अनेक मानसिक दुःख अपने आप ही बहुत अधिक बढ़ा लिये जाते हैं।

जो व्यक्ति किसी के दो–चार शब्द सुनकर अपार हर्ष का आस्वादन करता है वही व्यक्ति केवल दो–चार शब्दों के सुनते ही अपार शोक–सिन्धु में डूबने लगता है। एक बालक छोटा–सा खिलोना पाकर जब अत्यधिक सुखी होता है वही खिलौना टूट जाने पर या छिन जाने पर अत्यधिक दुःखी भी होता है–यह सुख–दुःख उसके मन के ही द्वारा बनाया हुआ है। इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य संसार में सारहीन बातों के पीछे सुखी–दुःखी होते रहते हैं।

सहस्रों व्यक्ति ऐसे हैं जो दुःख से मुक्त होने के लिये पूजा–पाठ, जपादि साधन करते हैं किन्तु विचार न कर सकने के कारण जीवन भर सुख–दुःख की परिधि में बंधे रहते हैं।

वास्तव में जो गुरु ज्ञान के प्रेमी हैं जो सच्चे भगवद् विश्वासी हैं वे सदा प्रसन्न शान्त रहते हैं, क्योंकि वे कल्पित सुख की सीमा को जानते हैं, दुःख के कारण को भी जानते हैं। वे किसी अन्य को दुःखदाता नहीं मानते बल्कि सुख–दुःख के रचने वाले अनुकूलता के रागी, प्रतिकूलता के द्वेषी मन को वे पहिचानते हैं।

बुद्धियोगी साधक बीती घटनाओं से शिक्षा प्राप्त कर लेता है और घटनाओं को भूल जाता है। वह अपने को खिन्न या विषादयुक्त

नहीं होने देता। हमें समझाया गया है कि—विषाद वह हानिकारक मुद्रा है जो छूत की बीमारी की तरह दूसरों पर भी प्रभाव डालती है। इसीलिये तुम विषाद को आने ही न दो। सदा प्रसन्न रहने का ध्यान रक्खो। प्रायः प्रसन्न रहने का स्मरण ही नहीं रहता।

सर्वसाधारण व्यक्ति जब किसी से मिलता है, परिचय प्राप्त करता है, तब कुछ न कुछ पाने की ही आशा लगाता है। जहां कुछ मिलने की आशा नहीं होती, वहाँ सम्बन्ध नहीं जोड़ता। इसके ठीक विपरीत तुम जब किसी से मिलो, सम्बन्ध स्थापित करो तो यही विचार करो कि यह भी एक सेवा का अवसर मिला है ''इसे मैं क्या दे सकता हूँ?'' यदि तुम नहीं दे सकते तो सुन्दर विचार तो दे ही सकते हो, प्रसन्नता तथा आदर मान के शब्द तो दे ही सकते हो। तुम छोटी—छोटी क्रियाओं में दूसरे की प्रसन्नता तथा हित का ध्यान रक्खो। अपनी प्रसन्नता के लिये दूसरे के समय, शक्ति का, सम्पत्ति का उपभोग न करो।

जो मनुष्य छोटी—छोटी बातों में असावधान रहता है, उसका बड़ी—बड़ी बातों में सावधान रहना असम्भव है।

कभी अपने को बेकाम न रक्खो, जब काम न करो तब तन, मन से पूरा विश्राम करो। मन को स्वेच्छापूर्वक इधर—उधर न भटकने दो या तो सेवा करते रहो या फिर अवकाश मिलने पर परमात्मा का ध्यान करो। परचर्चा तथा परचिन्तन में समय खराब न करो। तुम्हारे मन में

प्रियतम प्रभु–सम्बन्धी विचार रहने चाहिये, चिन्ता छोड़कर प्रभु का चिन्तन करना चाहिये।

जिसका हृदय तथा मस्तिष्क खाली होता है उसमें किसी का भी अधिकार हो सकता है, किन्तु जो अपने हृदय तथा मस्तिष्क में परमप्रभु के लिये स्थान दे देता है तब उसमें संसार का अधिकार नहीं रह जाता।

जिसके स्वामी भगवान् हो जायेंगे उसका स्वामी संसार नहीं हो सकेगा। संसार का शासन उन्हीं के ऊपर है जो भगवान् से सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते अथवा अपने सत् स्वरूप को या आत्मा–अनात्मा के भेद को नहीं जानते।

अपनी विचार–शक्ति का उपयोग प्रतिदिन श्रेष्ठ उद्देश्यों के लिये करो। विचारों की शक्ति भी जीवन में उतनी ही आवश्यक है जितनी कि जल, अन्न और धन की आवश्यकता शरीर निर्वाह के लिए है।

आत्मा की अभिव्यक्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में होती है। यही आत्मा की तीन शक्तियाँ हैं।

प्रायः मनुष्य के मन में विचार तो ऊँचे आ जाते हैं, किन्तु वे व्यवहार में नहीं आते। यही मानस की दुर्बलता है, असंयम के कारण ही यह दुर्बलता सद्गति सदाचार में बाधक बनती है।

अनेक बुद्धिमान मनुष्य अपने श्रेष्ठ संकल्पों को व्यवहार में न लाकर अपनी प्रगति को रोक देते हैं। व्यवहार में न लाया हुआ उत्तम विचार एक हानिकारक परिणाम उत्पन्न करता है। इससे मस्तिष्क में जड़ता पोषित होती है।

तुम अपने पवित्र संकल्पों को शीघ्र ही पूर्ण करने में लग जाओ। बीच में आलस्य प्रमाद को आने ही न दो।

ऐसे समझदार विद्वान अनेक मिलते हैं जो कि दस वर्ष पूर्व जैसा जीवन बिता रहे थे वैसा ही आज भी बिता रहे हैं। साधन चलता रहता है, संतों गुरुजनों का सत्संग भी होता रहता है, अध्ययन भी नित्य किया जाता है, परन्तु वही प्रश्न, वही कठिनाइयाँ, वही प्रलोभन, वही दुर्बलता, वही आदतें जीवन की गति को दबाती रहती हैं।

साधक में यदि आन्तरिक उद्योग नहीं है, संकल्प में दृढ़ता नहीं है, अपनी उन्नति की प्रबल अभिलाषा नहीं है, साथ ही अपने भीतर दोषों के होने का दुःख नहीं है तो वाह्य ज्ञान कितना ही बढ़ जाय, वाह्य परिस्थिति कितनी ही अनुकूल हो, फिर भी जीवन में मुक्ति, भक्ति, शान्ति सुलभ नहीं हो सकती। विचार विवेक के अनुसार व्यवहार नहीं हो सकता।

मनुष्य के कर्मो से ही उसके विचारों का सही परिचय मिलता है और विचारानुसार ही कर्म बनते रहते हैं।

सेवा कार्य एवं कर्त्तव्यपालन करते हुए तुम दूसरे के कामों में हस्तक्षेप न करो। यह सहज भूल प्रायः अनेक बुद्धिमानों से होती रहती

है। जिसमें अधिक चंचलता होती है, वही सभी के कामों में दूसरों के बीच अपनी योग्यता का परिचय देने लगता है। ऐसा व्यक्ति यह भी नहीं सोचता कि दूसरे लोग मेरी बात को सुनना चाहते हैं या नहीं? वह दूसरे की रुचि परखे बिना अपनी ही बात को समझता है।

तुम सभी मनुष्यों को परमात्मा की विभूति समझो और दूसरों की आकांक्षाओं का जो भी रूप हो, तुम उसका आदर करो, सबके प्रति सहानुभूति रक्खो। जो मनुष्य समझने की योग्यता रखते हैं और समझना चाहते हैं। उन्हें ही समझाओ। जो नहीं समझना चाहते, उन्हें अपनी मान्यता के अनुसार चलने में बाधा न डालो, उन्हें भी अपने कृत्यों पर सन्तुष्ट होने दो, रस लेने दो। जो कुछ सत्य है उसकी ओर कृत्यों का परिणाम स्वतः बढ़ने को बाध्य करेगा।

ध्यान रहे! दूसरों के प्रति उदार होकर तुम सहानुभूति तभी दिखा सकोगे जब स्वयं अन्धविश्वास एवं धर्मान्धता से बुद्धि को मुक्त कर लोगे।

यह भी विचारणीय है कि अन्धविश्वासों के पीछे कुछ न कुछ सत्य का योग होता है। उसी से अन्धविश्वासों को पुष्टि मिलती है।

असत् को ही सत् मान लेना, निस्सार को सार मान लेना अन्धविश्वास है।

अनेक साधक साधना का ऐसा प्रभाव देखना चाहते हैं जिससे दूसरे व्यक्ति चकित हों, आकर्षित हों। इसी के लिये आरम्भ में कठिन तप तथा वाह्य त्याग और इसी के लिये बड़े–बड़े कष्ट सहते रहते

हैं, किन्तु अभिमान के त्याग में, लोभ, मोह तथा सुखासक्ति के त्याग में जो कष्ट प्रतीत हाते हैं, उन्हें नहीं सह पाते, विवेक की कमी में या फिर मान, माया, भोग की आसक्तिवश यह भूल होती रहती है।

जिस प्रकार कोई ऋण से मुक्त होने पर हर्षित होता है, उसी प्रकार तुम्हें कर्म फल को भोगते हुए सन्तुष्ट प्रसन्न रहना चाहिये।

जिन बातों को तुम रोक नहीं सकते उन्हें विवशतापूर्वक सहना ही बुद्धिमानी नहीं है, बल्कि उन्हें प्रसन्न रहकर स्वीकार करना अच्छी समझ का परिचय है। बहुतों के लिये प्रसन्नतापूर्वक प्रतिकूलताओं को सहन करना अति दुष्कर है।

कर्म भोग दैवी विधान में निश्चित है, किन्तु ऐसा भी नियम है कि किसी भोग को आगे के लिये टाला भी जा सकता है और शीघ्रता से भोगा भी जा सकता है। भोग की अवधि घट भी जाती है। बीस वर्ष का भोग पांच वर्ष में समाप्त हो सकता है और पचास वर्ष भी बढ़ सकता है। **सुख भोग से पुण्य घटते हैं, दुःख भोग से पाप घटते हैं।**

तप तथा प्रायश्चित कठोर व्रतादि से पापों का शीघ्रता से अन्त हो जाता है।

यदि तुम कर्म के विधान को समझते हो तो तुम पर चाहे कुछ भी बीते, तुम्हें कहीं आश्चर्य नहीं होगा। सब कुछ ही दीखेगा। जो कुछ भी आयेगा तुम प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करोगे और जो कुछ जायेगा, उसे उसी शान्ति से विदा करोगे।

संसार में साधारण व्यक्ति जिसे दुर्भाग्य कहते हैं वही तुम्हें दीखना चाहिये, क्योंकि सत्य के प्रेमी किसी सुखी को भाग्यशाली नहीं मानते, वे तो जो प्रसन्नतापूर्वक दुःखों को सहता जाता है उसे ही सौभाग्यशाली समझते हैं।

जब तुम पर आने वाले कष्टों–दुःखों एवं विपत्ति के साथ लोगों की कटु आलोचना तथा निंदा भी सुनाई दे, तब समझो कि परमेश्वरीय विधान की कृपा है और अपना बहुत ही सौभाग्य है। ऐसी स्थिति में बहुत बड़े कर्मों के भोग का अन्त हो रहा है–ऐसा विश्वास रखना चाहिये।

ऐसी बात सुनने, पढ़ने से बहुत हितकर और प्रिय लगती है, परन्तु अवसर आने पर कोई विरले ही विवेकी सावधान रह पाते हैं।

दूरदर्शी सन्तों की यही सम्मति है कि तुम दुःख के समय प्रसन्न रहने की बात दृढ़ता से मन में बिठा लो और तैयार रहो। अपने आस–पास देखो तो दिखाई देगा कि भले व्यक्तियों पर, परमार्थी साधकों पर प्रायः लगातार ही विपत्तियाँ आती हैं, कष्ट आते हैं जिन्हें देखकर लोगों को यह कहने का अवसर मिलता है कि पापी अन्यायी फलते–फूलते हैं और धर्मात्मा न्यायी अनेक कष्टों से दुःखों से पीड़ित रहते हैं। परन्तु विवेकी धर्मनिष्ठ ऐसा नहीं मानता। वह कदापि नहीं सोचता कि सत्य धर्म के पथ में चलने से दुःख–कष्ट आते हैं क्योंकि वह जानता है कि 'ऐसा कुछ नहीं आयेगा जिसके हम भागीदार नहीं हैं'–वह निश्चिन्त, निर्भय, अडिग रहकर प्रसन्नतापूर्वक सहता जाता है

और कर्म भोग से मुक्त होता जाता है, क्योंकि वह आस्तिक है, परमेश्वर के कृपापूर्ण विधान पर विश्वास रखता है।

तुम महान् सन्त, महापुरुषों का जीवन–चरित्र पढ़ोगे या सुनोगे तो पता लगेगा कि उन्होंने भी असीम कष्ट भोगे हैं। अनेक महापुरुषों ने बड़ी कठिन तपस्या के द्वारा कर्म बन्धन को काट दिया है, अर्थात् अपने आप भोग उदय होने के प्रथम ही स्वयंमेव अपने शरीर में उस भोग को लेकर प्रसन्नतापूर्वक कर्म भोग का अन्त कर मोक्ष प्राप्त किया है।

परमेश्वर जिसे संसार से मुक्त बनाकर अपनी भक्ति देना चाहते हैं उस पर अनुग्रह करके कष्ट देते हैं, उसका सर्वस्व हर लेते हैं। जो इस रहस्य को जानता है और परमेश्वर की भक्ति चाहता है, वह सदा कष्टों एवं दुःखों के मध्य प्रसन्न रहता है।

तुम्हारे ऊपर जब कष्ट आवें तब प्रभु का अनुग्रह समझो और विचार करते रहो कि प्रभु की कृपा से अभी इससे अधिक कष्ट नहीं है। स्मरण रक्खो कि डरने से दुःख दूना हो जाता है और न डरने से आधा रह जाता है।

अनुभवी सन्तों की यही सम्मति है कि तुम अपने कर्मों का भुगतान दिये बिना परम प्रभु के कार्य के लिये उपयोगी नहीं हो सकते। इसीलिए जिसे जो कुछ देना है वह देते जाओ और कुछ लेना है उसे छोड़ दो। यही संसार से मुक्त होने का उपाय है।

कभी–कभी पूर्व कर्म का प्रसन्नतापूर्वक भुगतान देना सरल दीखता है परन्तु अपने अधिकार का त्याग अधिक कठिन है। तुम प्रसन्न रहकर सर्वप्रथम वस्तुओं से ममता हटा लो, तत्पश्चात् व्यक्तियों पर से स्वाधिकार को छोड़कर संग के अभिमान से रहित हो जाओ।

जिसे अपना मान लिया है उससे ममता हटाना अवश्य कठिन है और अधिकार को हटा लेना तो उससे भी कठिन है। इसकी परीक्षा तभी होती है जब प्रिय स्नेही का वियोग हो और जिस पर अपना अधिकार रहा हो उसी की ओर से अपना अनादर दीखता हो, अवज्ञा प्रतीत होती हो, उस समय में भी जो शान्त, समस्थित, प्रसन्न है वही मोह तथा अधिकार के अभिमान का पूर्ण त्यागी है, वही यथार्थ विवेकी है।

तुम्हें किसी के प्रति प्रेम को नष्ट नहीं करना है वरन् प्रेम के बीच में कहीं स्वार्थ भावना हो, अपने सुख की कामना हो तो उसे ही नष्ट करना है और अपने आप में सदा संतुष्ट प्रसन्न रहना है।

साधक की निष्ठा दृढ़ होनी चाहिये। एकनिष्ठ वही है जिसकी दृष्टि में एक ही अनेक में दीखता है, अनेकता एक में ही विलीन रहती है।

एकनिष्ठा गोपिकाओं को सब कुछ श्याममय दीखता था '**जित देखूँ तित श्याममयी है।**'

जिन मनुष्यों में जो कुछ उच्चतम सर्वश्रेष्ठ गुण है, जो उच्चतम ज्ञान को परमात्मा की वस्तु माननी चाहिये। परमात्मा में ही पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिये।

विवेकी साधक को अपने इष्टदेव के प्रति अनन्य निष्ठा परमावश्यक है। एकनिष्ठ प्रेमी सदा सफल होता है क्योंकि उसकी समस्त शक्तियाँ संगठित होकर कार्य करती हैं।

जिसकी निष्ठा दृढ़ होती है उस प्रेमी साधक की कोई भी वस्तु साधन पथ से कहीं विचलित नहीं कर सकती, कोई प्रलोभन अथवा सांसारिक स्नेह कभी लक्ष्य के पीछे नहीं हटा सकता।

एक निष्ठा की पुष्टि एकाग्रता के अभ्यास से भी की जा सकती है। एक समय में एक ही काम मन लगाकर करने से या एक ही केन्द्र में मन एकाग्र करने से भी बिखरी हुई मन की वृत्ति सिमट कर शक्ति बन जाती है। वही आगे चलकर अनन्य निष्ठा, अनन्य प्रीति कही जाती है।

पूर्ण श्रद्धा होने पर ही ज्ञान पूर्ण होता है, प्रेम पूर्ण होता है। जब तक अभिमान रहता है तब तक श्रद्धा पूर्ण नहीं होती। श्रद्धा की कमी में साधक स्वच्छन्द होकर साधन करता है, स्वच्छन्दता भयानक दोष है। स्वच्छन्द होकर लोग प्रायः काम की प्रेरणा को ही राम की प्रेरणा कहने लगते हैं। अपने अन्तःकरण की प्रेरणानुसार कार्य करना उचित समझते हैं, किन्तु यह भेद गुरु कृपा से ही जान सकते हैं कि विद्वान

विवेकी के अन्तःकरण में जो प्रेरणा होती है उसमें बहुत अन्तर रहता है।

सन्त सद्गुरु ने हमें यह भी समझाया कि तुम जो कुछ करो उसके लिये यह भी उत्तर ले लो कि अमुक कार्य से हमारे प्रभु प्रसन्न हो सकेंगे या नहीं? तुम गुरु–सम्मत विचारों को भीतर स्थान दो। श्रेष्ठ विचार मानो एक देवता है, तुम विचाररूपी देवता की उपासना करो।

ध्यान रहे जब तक तुम स्वयं दोषों से घिरे हुए हो तब तक प्रभु के कार्य करने योग्य नहीं हो सकते।

प्रेमी साधक को अपने मानस में आराध्य प्रभु से ही सम्बन्धित विचार को स्थान देना चाहिये। ऐसा करने से प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः ही प्रभु–सम्बन्धी विचार ही चलता रहेगा, अन्य का चिन्तन नहीं आयेगा। अपने प्रियतम प्रभु की सेवा का विचार करना ही सर्वोत्तम विचार है। उनके कार्य को पूरा करने की अभिलाषा ही सुन्दर अभिलाषा है।

प्रेमी साधक सदा ऐसे कर्मों की खोज में रहता है जो उत्तम कार्य आलस्य प्रमादवश दूसरों ने छोड़ दिये हैं।

प्रेमी साधक सभी प्रकार के अभिमानों का त्याग कर देता है। वह अपना कुछ नहीं मानता। पुनः आगे चल कर त्याग करने का अभिमान शेष शेष रहता है, उसे भी सावधान रह कर छोड़ता है।

प्रेमी साधक को विवेकपूर्वक आत्म–निरीक्षण करना चाहिये और अपना समय उन निरर्थक बातों में नहीं खोना चाहिए जिनमें सांसारिक व्यक्ति दिन–रात उलझे रहते हैं। आत्म–निरीक्षण करते हुए अज्ञान का अन्त कर देना चाहिये क्योंकि अनेक बुराइयाँ अज्ञान से ही उत्पन्न होती हैं।

परमेश्वर जिस प्रकार प्रेमस्वरूप है उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप भी है। ज्ञान स्वरूप से वही सबका परम गुरु है। साधक का कल्याण परम गुरु की शरण लेने पर ही सम्भव है। अहंकार को जान लेने पर शरण की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि आनन्द तो अशरणता में है। आनन्द किसी शरण में नहीं है वह तो स्वयं में ही है।

गुरु कृपा का आश्रय लेने वाला साधक अपने में इसीलिये ज्ञान नहीं बढ़ाता, केवल इसके लिये ही अध्ययन नहीं करता कि दूसरे लोग हमें ज्ञानी समझें, वरन् वह इसीलिए ज्ञान को पूर्ण करना चाहता है कि ज्ञानी बुद्धिमान पुरुष ही परमप्रभु की सेवा में सफल हो सकते हैं। अनेक व्यक्ति सेवा करना चाहते हैं, परन्तु ज्ञान की कमी के कारण अनेक भूलें होती रहती हैं।

तुम किसी वस्तु के लिये इच्छा या कामना करते हो तब तो बहुत नीचे स्तर में उतर कर एक दुर्बल वस्तु के सहारे अपनी पूर्ति चाहते हो। कामना इच्छा मनस क्षेत्र की हीन शक्ति है।

इच्छा की पूर्ति के लिये शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है, किन्तु संकल्प की सिद्धि के लिये प्राप्त शक्ति का उपयोग होता है।

इच्छा की पूर्ति परापेक्षित है, पर का अवलम्बन लेना होता है और संकल्प की सिद्धि स्वापेक्षित है, अपने आप में शक्ति को देखना है और काम में लाना है।

तुम किसी सद्‌गुण को अथवा अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, किसी दोष को दूर करना चाहते हो तो संकल्प करो, केवल दृढ़ संकल्प करो और प्रयत्न में जुट जाओ, दैवी शक्ति सहायक होती जायगी।

तुम किसी सद्‌गुण को अथवा अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, किसी दोष को दूर करना चाहते हो तो संकल्प करो, केवल दृढ़ संकल्प करो और प्रयत्न में जुट जाओ, दैवी शक्ति सहायक होती जायगी।

जो संकल्प दृढ़ होता है उसमें अन्य किसी भावना के लिये स्थान नहीं रह जाता। संकल्प शक्ति ईश्वर की शक्ति है। तुम उससे कोई भी काम ले सकते हो। संकल्प शक्ति के दुरुपयोग से भोगी हो सकते हो और सदुपयोग से योगी भी हो सकते हो।

ईश्वर के सच्चे प्रेमी में केवल एक सेवा करने का ही संकल्प होता है। इस पवित्र संकल्प की पूर्ति के लिये व्यक्तिगत सुखोपभोग एवं मान की इच्छा का सर्वथा त्याग करते हुए प्रेमी संतुष्ट प्रसन्न रहता है।

जो लोग त्याग से डरते हैं वे सत्य के महत्व वास्तविकता को नहीं जानते। जिनकी बुद्धि में सत्य का अर्थात् शाश्वत् आत्मा का मूल्य सबसे ऊपर हो जाता है वे निम्न व्यक्तित्व का त्याग करते हुए अभय रहते हैं।

तुम परमेश्वर परमात्मा को किंचित भी अपने से भिन्न न मानो। सारी भिन्नता नाम रूपमय प्रकृति में है। अनन्त नाम रूपों का प्रकाशक, सबका आधार एक ही परमतत्व चैतन्यघन तत्व है, इसी का बुद्धियोग द्वारा अनुभव करो।

भले या बुरे विचारों के अनुसार ही तुम्हारा वासना शरीर सुन्दर या असुन्दर बनता है। वह रूप भुवर्लोक निवासी देखते हैं। उसकी कुरूपता को किसी प्रकार भुवर्लोक की दृष्टि से छिपाया नहीं जा सकता, वह दिव्यदृष्टि–योग से ही दीखता है।

इस लोक में भी जो मनुष्य स्वार्थपूर्ण बुरे विचारों के अधीन रहता है उसका वासनामय शरीर पशु आकृति का समझना चाहिये। उसकी समीपता में जो व्यक्ति रहेंगे वे अशान्त, दुःखी क्षुब्ध होते रहेंगे। उसकी उपस्थिति से आस–पास का वातावरण अशान्तिमय बना रहता है, यही कुयोग है।

दूसरों का बुरा चाहने से, किसी की निन्दा करने से, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध तथा कठोर वचन द्वारा दूसरों को दुःखी बनाते रहने से वासना शरीर भयानक भद्दा, कुत्ता, बिल्ली, ऊँट, गधा, घोड़ा आदि पशुओं के समान मुख वाला बन जाता है। **प्रायः जिस पशु के समान मन की**

वृत्ति होती है उसी पशु की–सी आकृति भी बन जाती है, यही कुयोग है।

निन्दा करना तो बुरा है ही प्रत्युत निन्दा सुनना, उसका समर्थन करना भी अपराध में भागीदार बनना है। अतः किसी की निंदा सुनते ही नम्र शब्दों में अस्वीकार कर देना चाहिये।

जिस प्रकार शरीर से हिंसा–प्रधान कर्म क्रूर कर्म कहे जाते हैं, उसी प्रकार परनिन्दा, कठोर वाक्य, दूसरे के हृदय को व्यथित करने वाली बात, यह सब वाणी के क्रूर कर्म हैं। इन क्रूर कर्मों से सदा सतर्क रहना चाहिये।

जो मन भावै सो करे, भलौ बुरो संसार।
नारायण तू बैठि कै, अपनों भवन बुहार।।
तुलसी या संसार में, भांति–भांति के लोग।
सब सौं हिल–मिल चालिये, नदी–नाव संयोग।।

किसी साधन की, किसी सन्त की, गुरु की अथवा किसी सन्त की प्रशंसा न करते रहो, वरन् उसकी आज्ञानुसार चलो।

जितना बल प्राप्त है उतने का ही सदुपयोग करो, जितना विवेक सुलभ है उतने का ही आदर करो। विवेक विरुद्ध कुछ न करो।

देशभक्त होना, अपनी जाति का गौरव रखना, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाना, सेवा के लिये सदा तत्पर रहना, यह सभी बातें बहुत सुन्दर हैं, परन्तु साधक को सावधान रहना चाहिये। दूसरे देश या जाति के दोषों को देखते हुए तथा किसी को हानि पहुँचाकर

अपना लाभ सिद्ध करने का पक्ष न होना चाहिये, इसीलिए विवेक की आवश्यकता है।

प्रत्येक धर्म में किसी विशेष गुणों पर अधिक जोर दिया जाता है और सभी गुण मानव–जाति की उन्नति के लिये आवश्यक हैं। साधक को अपनी विचार–शक्ति का उपयोग गुण दर्शन में करना चाहिये। सभी के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिये, यद्यपि सब ऐसा नहीं कर सकते।

सभी बुराइयाँ अज्ञान से उत्पन्न होती हैं। ज्ञानी की दृष्टि में अज्ञानी घृणा का नहीं, वरन् दया का पात्र है।

परस्पर अच्छा और बुरा मानने से राग–द्वेष बढ़ता है। संसार में जहाँ कहीं अच्छाई है, सुन्दरता है, वह एक परमेश्वर की है जो कि अच्छे सुन्दर मनुष्यों द्वारा फैलती रहती है।

संसार में जहाँ तक सौन्दर्य दीखता है, जहाँ कहीं महत्ता दीखती है वह उसी अनन्त सौन्दर्य निधान महान का एक अंश मात्र है।

तुम स्मरण रख सको तो यह बहुत सुन्दर सम्मति है कि किसी मनुष्य की बुराई पर मनन न करो क्योंकि बुराई के मनन से उसमें बुराई पुष्ट होगी। इसीलिये दूसरे में जो भलाई दिखाई दे उसी का मनन करो तो उसमें भलाई की वृद्धि होगी प्रत्येक भला–बुरा विचार उसके पास जाता है जिसके विषय में वह विचार होता है।

दिव्य दृष्टि जिनकी खुल जाती है उन्हें जाते हुए विचारों का रूप–रंग दिखाई देता है और विचार पात्र के पास पहुँच कर अवसर ही मिलते ही अपना प्रभाव डालता है।

तुम अपने मन में उत्तम विचारों को ही स्थान दो। इससे तुम्हारी उन्नति होगी। निकृष्ट विचारों से अवनति होगी, मन अशुद्ध होता रहेगा, विचार निरीक्षण के लिये विरले ही सावधान रह पाते हैं।

यह भी गुरु सम्मति है कि तुम सदा किसी व्यक्ति के अच्छे गुणों पर ध्यान दो। दोषों तथा बुरी बातों की खोज न करो। दोष निरीक्षण का, छिद्रान्वेषण का कार्य संसार के अन्य प्रपंच प्रेमियों के लिये छोड़ दो। वे तो इसे चालू रक्खेंगे ही और तुम से अधिक रुचिपूर्वक रस लेते हुए वे पराये दोषों की चर्चा करते रहेंगे पर तुम अपने समय को इस निषिद्ध कर्म में नष्ट न करो।

अच्छी बातों को चुन लेना महत्त्वपूर्ण अभ्यास है। अभिमानरहित होने पर ही कोई मानव गुणदर्शन का अभ्यासी हो पाता है।

किसी एक मनुष्य में बहुत बुरी बातें सोचने की अपेक्षा सैकड़ों मनुष्यों के विषय में बहुत अच्छी बातें सोचना अति उत्तम है।

यह मनुष्य का निचला मनस है जो दूसरों के दोषों को देखकर अपने को गुणवान मानते हुए सन्तुष्ट रहना चाहता है।

तुम्हें स्वयं सदाचारी होना है और उसके लिए छः नियमों का पालन करना होगा।

(1) मन का निग्रह (2) इन्द्रियों का निग्रह (3) सहिष्णुता (4) प्रसन्नता (5) एकनिष्ठा (6) श्रद्धा।

सदाचार के नियमों का पालन करते हुए तुम कठिनाइयों पर विजय पा सकते हो। कठिनाइयों को पार करना बहुत अच्छी शक्ति प्राप्त करने का परिचय है।

जो साधक स्वभाव पर नियन्त्रण कर लेता है, वही कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं से पराजित नहीं होता। अवश्य ही यह जीवन में ऊँची विजय है जो कि कठिन है।

जो मानव स्वभाव पर नियन्त्रण नहीं कर पाता, उनके मनस में अनावश्यक आवेग से, क्रोध के उबाल से, छोटी–छोटी चिन्ताओं से उद्विग्नता से अथवा रोष से, ईर्ष्या, स्पृहा, घृणा की भावनाओं से शक्ति की असुन्दर गति होती है जो जीवन को लक्ष्य की ओर बढ़ने में बाधक बनती है, विपरीत दिशा में भटका देती है। ऐसे व्यक्ति के विचारों में प्रायः स्थिरता नहीं पाई जाती?

जो साधक बुद्धियोग द्वारा परिणामदर्शी है, वह किसी की मूर्खता देखकर चिड़चिड़ेपन को प्रकट नहीं करता। अविवेकी साधक ही क्रोधयुक्त कठोर वचन कहने वाला या चिढ़कर उतावलेपन से बिना विचारे ही उत्तर देने वाला व्यक्ति प्रायः किसी क्लेश या चिन्ता से घिरा होता है, इसीलिये वह न कहने योग्य बातें कह जाता है। वह अपनी मनःस्थिति को समझ भी नहीं पाता।

प्रेमी साधक को चाहिये कि अपने किसी साथी की असफलता में अत्यंत विनय के साथ अपना परामर्श दे जिससे कि, उसके भीतर हीनता–दीनता के स्थान पर, भविष्य को सुन्दर बनाने का उत्साह हो, उल्लास हो।

दूसरों की नुकताचीनी करते रहने की आदत बना लेना, सदा छिद्रान्वेषण करते रहना, पराई भूलों को दुर्बलताओं को ढूँढते रहना, एक अत्यन्त निकृष्ट बात है।

साधक को ध्यान रखना है कि वाणी पर संयम रखना बहुत ही सरल हो सकता है पर विचारों पर नियन्त्रण अधिक कठिन है, किन्तु साधक को जो कठिन दीखता है उसी को अभ्यास विवेक द्वारा बना लेना है।

प्रेमी साधक को चाहिये कि कुछ बोलने के प्रथम, कुछ करने के प्रथम, कुछ लेने के प्रथम, कुछ देने के प्रथम विचार कर ले कि किसमें हित है, किसमें अहित।

जो बोलने के प्रथम सोच नहीं लेते, वे असत्य भाषण के भागी बनते हैं। कभी–कभी बहुत अधिक बढ़ाकर बोल जाते हैं।

विवेकी साधक मिथ्या प्रदर्शन नहीं करते। प्रत्येक छल सत्य की महिमा में एक बाधा बन जाता है जो सत्य साधक के द्वारा प्रकाशित होता है।

''कहूँ कहूँ गुण दोष ते, उपजत दुःख शरीर।
मधुरी बानी बोल के, परत पींजरे कीर।।''

कुशलतापूर्वक कर्म करने से योग सिद्ध होता है। **ईश्वर के साथ एकान्त स्थापित करने को ही योग कहते है।**

योगी स्वयं कर्म नहीं करता वरन् उसमें स्थित ईश्वर ही सब कुछ करता है। योगी उसका एक यन्त्र बन जाता है।

कुशल कर्मी योगी किसी कर्म में लिप्त नहीं होता क्योंकि वह अपने भीतर प्रेरक प्रभु को देखता रहता है।

विवेकी साधक अशुभ कर्मों से बचने के लिये अकर्मण्य नहीं हो जाता। वह भावनाओं को नष्ट नहीं करता वरन् वह अपने कर्म, भावना एवं विचारों के द्वारा मनुष्य जाति के लिए उपयोगी बनता जाता है।

मनुष्य के भावों और विचारों के द्वारा भुवर्लोक एवं मनोलोक में एक रूप आकर निर्मित होता है और वही रूप उस व्यक्ति या वस्तु के समीप जाकर अपने गुण, स्वभाव के अनुसार प्रभाव डालता है। पुनः उसकी भली या बुरी प्रतिक्रिया विचार करने वाले के प्रति लौटती है।

प्रेमी साधक को किसी के प्रति विचार करते हुए सावधान रहना चाहिये। केवल पवित्र हितकारी भावों, विचारों को ही हृदय में स्थान देना चाहिये, किसी का अहित नहीं सोचना चाहिये।

कल्याणकारी अर्थात् हितकारी विचारों से जो रूप बनता है, वही अपने और दूसरों के लिए कल्याणकारी होता है।

विवेकी साधक को सिद्धियों की भी इच्छा न करनी चाहिये। सब कुछ आराध्य प्रभु पर ही छोड़ देना चाहिये। वे जो कुछ हितकर समझेंगे, वह अनायास ही सुलभ हो जायेगा।

साधक को चाहिये कि वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए साहसी बनने का मौन रहने का अर्थात् मितभाषी होने का दृढ़ संकल्प कर ले, फिर उसे शिथिल न होने दे।

****

चेतावनी

कृपा है तभी ऐसा अवससर मिलेगा।
जो अब कर न पाये तो कब कर मिलेगा।
गुरुजन जगाते हैं उठो जीव जागो।
महा दुःखद भोग भूमि चलो शीघ्र भागो।
राग, द्वेष, लोभ, मोह, सभी दोष त्यागो।
देते रहो जो भी बने किसी से न मांगों।
समय निकल जाने पर फिर न घर मिलेगा।।
जगत में सभी को काल खा रहा है।
कुछ गोद, कुछ मुख मध्य जा रहा है।
कौन है जो काल से बच पा रहा है।
समझ लो तुम्हारा भी समय आ रहा है।
शरणागत भक्त को ही अभय वर मिलेगा।।
जहाँ तक शक्ति, पर उपकार करना।
दया प्रेम भाव से सबको प्यार करना।

असत् से विमुख हो सद्–विचार करना।
ध्यान योग द्वारा पंचकोष पार करना।
तभी तुम्हें क्षर के परे अक्षर मिलेगा।।
तुम बुद्धियोगी बनो नित्य गुरु ज्ञान लो।
अपना नहीं है कुछ जग में ये जान लो।
एक परमात्मा को सर्वस्व मान लो।
ज्ञान योग द्वारा निज रूप पहिचान लो।
'पथिक' भव–सिन्धु से तभी तर मिलेगा।।

निषकाम जीवन

चित्त में यदि चाह न रह जाये, फिर कुछ दुःख दाह न रह जाये।
हम ऐसे हो जायें ज्ञानी, फिर रहें न किंचित अभिमानी।
बन जायें सब कुछ के दानी, भवसिन्धु अथाह न रह जाये।।
सद भांति सदा सन्तोष रहे, मन, बुद्धि सदा निर्देश रहे।
सोहं सत्योहं घोष रहे, कुछ भी परवाह न रह जाये।।
जग के वैभव धन पाने का, शासन अधिकार बढ़ाने का।
फिर किसी ओर भी जाने का, कुछ भी उत्साह न रह जाये।।
अपने उर का छलमल धोकर, सब भेद भावना को खोकर।
हम 'पथिक' रहें तुम मय होकर, दुर्गति की राह न रह जाये।।

जागृति सन्देश

शुभ अवसर बीते जाते हैं, तुम बुद्धिमान मानव जागो।
अविवेकी देर लगाते हैं, तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

यह महादुःखद अज्ञान निशा, जिसमें सूझती न सत्य दिशा।
इसको सब समझ न पाते हैं, तुम बुद्धिमान मानव जागो।।
यह झूठे दुःख–सुख के सपने, जिनको तुम समझ रहे अपने।
सब मन के माने नाते हैं, तुम बुद्धिमान मानव जागो।।
भोगों से जो कि विरक्त बने, जो सच्चे प्रभु के भक्त बने।
वे गुरु जन नित्य जगाते हैं, तुम बुद्धिमान मानव जागो।।
जो उठते मोह नींद तजकर, चलते शुभ सद्‌गुण से सजकर।
वे 'पथिक' सुपथ में गाते हैं, तुम बुद्धिमान मानव जागो।।

****

अभ्यास योग

जिस विधि से शक्ति का स्वच्छन्द प्रवाह रोक कर मर्यादा में बाँधा जाता है उसे ही अभ्यास योग कहते हैं।

किसी एक केन्द्र पर मन की वृत्ति को रोकने को संयम कहा गया है। संयम से धारणा, ध्यान, समाधि की सिद्धि होती है। संयमित वृत्ति ही शक्ति बन जाती है, वही शक्ति अपने उद्‌देश्य को पूर्ण करने में सहायक होती है।

शक्ति की अधिकता के लिये विनय की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अभ्यास योग की आवश्यकता है।

आलसी तथा विषयासक्त प्राणी संयमी नहीं हो पाता है। श्रम में तत्पर व्यक्ति संयमी होता है, संयमी ही अभ्यास में दृढ़ रह पाता है।

वाणी के वेग को, स्वाद–लोलुप रसना (जिह्वा) के वेग को, उपस्थ (काम इन्द्रिय) के वेग को, क्रोध के वेग को रोकना संयमी के लिये ही सम्भव है।

संयमी की सफलता भोगेच्छाओं को छोड़ते जाने में है। संयमी बहुत कम बोलता है। वह या तो संक्षेप में उत्तर दे देता है, अथवा वह मौन रहता है।

जो सज्जन मितभाषी हैं, बहुत कम बोलते हैं, जो कभी व्यर्थ वार्ता नहीं करते उनमें मनन शक्ति अधिक बढ़ जाती है–वे ही मुनि होते हैं।

आवश्यक संकल्प पूरे करना, अनावश्यक संकल्प उठने न देना, यह सुन्दर संयम है। संयामाभ्यास के लिये सतत् सावधान रहने की आवश्यकता है।

जो अपनी इन्द्रियों पर तथा मन पर संयम नहीं कर पाता, वह करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी साधना में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। इन्द्रियों तथा मन को संयम न रखते हुए लाखों उपाय कोई मोक्ष के लिये अथवा शान्ति के लिये करे, वे सभी निष्फल जाते हैं। अभ्यास योग से सिमटी हुई एकत्रित हुई शक्ति ही योगसिद्धि में सहायक होती है।

साधना के प्रेमी सज्जन अथवा सेवा करने वाले सेवकजन हाथों–पैरों को संयम में रक्खे, कहीं व्यर्थ चेष्टा न करें।

वाणी को संयम में रक्खें, व्यर्थ वाता न करें, किसी को आवेश, क्रोध में आकर कठोर वचन न कहें, पर निन्दा न करें, असत्य भाषण न करें, अपनी प्रशंसा भी न करें क्योंकि वाणी में संयम न होने के कारण ऊपर कथित चार पाप वाणी से होते हैं।

परमार्थी सज्जन किसी के दोषों का मनन न करते हुए, मिथ्या दृष्टि का त्याग करते हुए, किसी का अहित न चाहते हुए मन का संयम पूर्ण करें–यही गुरु सम्मति है।

आसुरी शक्ति की प्रबलता में दया करना, मानवी गुणों के द्वारा मन इन्द्रियों का दमन करना और दैवी शक्ति की प्रधानता में दान देना, त्रिशक्ति का संयम है।

जो मनुष्य छोटी–छोटी चिन्ताओं से उद्विग्न होता है उसकी शक्ति उसी प्रकार व्यर्थ नष्ट होती रहती है जिस प्रकार किसी के शरीर में छत (घाव) हो जाने से उससे शक्ति नासूर बन कर बहती है।

जो साधक अपनी शक्ति को बचाये रख कर अच्छ कार्य करना चाहता है, जो अध्यात्म ज्ञानी होना चाहता है, तो उसका कर्त्तव्य है कि उन स्रोतों को बन्द कर दे जिनसे व्यर्थ शक्ति नष्ट होती है। स्थिरता और मनोनिग्रह से ही शक्ति संयमाभ्यास में सफलता मिलती है।

प्रत्येक मनुष्य में शक्ति उतने ही अंशो में आती है जिस सीमा तक वह बुद्धि, मन को आत्मा के निकट रखने का अभ्यासी हो चुका है अथवा जो आत्मानुभव में तृप्त रहता है।

यदि आप उपयोगी उत्तम शक्तियों की अपने में जागृति चाहते हो तो अपने वासना शरीर को, मन को शान्त, स्थिर रखिये। इसी के लिये धारणा ध्यानरूपी संयम आवश्यक है।

यदि आप कोई बुद्धि–सम्बन्धी उत्तम कार्य करना चाहते हो तो कुछ देर वाणी एवं मन से मौन होकर बैठ जाइये, फिर कार्य आरम्भ कीजिये। वाणी तथा मन के मौन से विश्राम मिलता है।

कभी–कभी बाहरी कोलाहल में भी चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास कीजिये। किसी प्रकार की विघ्न–बाधाओं को भी एकाग्रता का साधन बनाइये। संयम से स्ववश हुआ मन अन्तर्मुख हो जाता है।

संयम अभ्यास से शक्ति प्राप्त होती है और वह शक्ति किसी भी कार्य के लिये उपयोगी बनाई जा सकती है।

कठिन परिस्थिति के बीच में कार्य करने की योग्यता प्राप्त कर लेना अर्थात् परिस्थिति के सदुपयोग की कला समझ लेना ही तो उन्नति करते जाना है।

विवेकी साधक प्रत्येक अवसर से लाभ उठाता है। छोटी–छोटी असफलताओं को बहुत अधिक सोचते रहना, भाग्य, कोसते रहना भी व्यर्थ चिन्तन है। संयम के बल से व्यर्थ चिन्तन रुक जाता है, सार्थक चिन्तन होने लगता है।

यह भी अभ्यास योग में सिद्ध सन्त की सम्मति है कि अपने साथ दुर्व्यवहार न करो–कंजूसी, असंयम, आलस्य, प्रमाद–अपने साथ दुर्व्यवहार है।

तुम सत्कर्मों का चिन्तन ही न करते रहो बल्कि दूसरों की समयोचित सेवा करो। अभ्यास योग के साथ ही–

- प्यार चाहते हो तो दूसरों के मन की करो।
- मान चाहते हो तो सद्गुण तथा योग्यता को बढ़ाओ।
- स्वयं दुःखी हो तो सुख की इच्छा का त्याग करो।
- दूसरों को दुःखी देखो तो सहायता सेवा करो।
- कर्त्तव्यपालन में बड़ी–बड़ी कठिनाइयों को सहन कर लो।
- रागद्वेष को त्याग प्रेम से मिटा सकते हो।

विषय चिन्तन को ईश्वर चिन्तन से, भोग को योग से, स्वार्थ को सेवा से, दोषों को गुणों से, अविचार से बने बन्धन को विचार से, देहाभिमान को आत्मज्ञान से, मिटा सकते हो।

सन्त ने तो यही समझाया है कि–

जो कुछ हो रहा है उसे प्रभु का विधान समझो।

जो कोई तुम्हारी बात न माने तो उसकी मौज समझो। जो कुछ तुम्हारे प्रति हो जाय तो उसे भाग्य–विधान समझो।

जैसी भी परिस्थिति हो उसका सदुपयोग करो।

प्रतिकूल परिस्थिति में विरक्त त्यागी बनो।

अनुकूल परिस्थितियों में उदार दानी सेवा परायण बनो।

कर्त्तव्य सदा देने का ही पाठ पढ़ाता है। अधिकार में सदा लेने की ही उत्सुकता रहती है। योगाभ्यासी में अधिकार भोग की कामना रहनी ही नहीं चाहिये।

एक सन्त के प्रवचन में सुना था कि–कर्त्तव्य परायणता मानवता की पूर्णता का साधन है। सारे कर्त्तव्य पूर्ण होने पर कुछ करने की रुचि न रहेगी, कुछ पाने का लालच न रहेगा, मरने का भय नहीं रहेगा।

अभ्यास–योगी के लिए योग शास्त्रानुसार स्मरणीय गुरुवचन–

(1) ज्ञान, प्रेम, शक्ति, सद्गुण का भण्डार परमात्मा है।

(2) जिससे साधक परमात्मा की भक्ति प्राप्त करे, वही उत्तम धर्म है।

(3) जिससे आत्मा परमात्मा की एकता का अनुभव हो, वही ज्ञान है।

(4) विषयों से असंग रहना साधक के लिये वैराग्य है।

(5) बुद्धि का परमात्मा में लग जाना शम है।

(6) इन्द्रियों को संयम में रखना दम है।

(7) न्याययुक्त दुःख सहना तितिक्षा है।

(8) जिह्वा, जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना धैर्य है।

(9) कामना सहित अहंकार का त्याग ही पुरुषार्थ है।

(10) अपने मन की पूर्ति न चाहना सन्तोष है।

(11) स्वभाव पर विजय प्राप्त करना साधक की शूरता है।

(12) सर्वत्र सत् चित–आनन्दस्वरूप परमात्मा का अनुभव ही सत्य है दर्शन है।

(13) निरासक्त होकर रहना शौच (पवित्रता) है।

(14) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह–इन पांच को यम कहते हैं। पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर की भक्ति–इन पांच को नियम कहते हैं। धारणा, ध्यान, समाधि को संयम कहते हैं।

(15) अविद्या, अहंभाव (सूक्ष्म अहंकार), राग, द्वेष, मरण का भय यह पंचक्लेश हैं।

(16) असत् की विमुखता साधक को भक्ति मुक्ति के द्वारा तक पहुँचाने में समर्थ है। साधक को क्षोभ से खिन्नता से बचना चाहिये।

(17) क्षोभयुक्त दशा में अपने सही कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता। क्षोभ से प्रसन्नता ढक जाती है।

(18) प्रेम वही है जहां भिन्नता का अन्त हो जाये।

(19) त्याग वही है जहां वासना तथा संकल्पों का अन्त हो जाये।

(20) सन्यास वही है जहां वासना तथा संकल्पों का अन्त हो जाये।

(21) अन्नदान, विद्यादान, धनदान, अभयदान, मानदान, विचारदान– जीवन को पुण्यमय बनाने वाले दान हैं।

(22) प्रतिकूलताओं को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना, सभी प्रकार के दुःखों में शांत रहना तप है।

(23) वासना पर विजय प्राप्त करना शूरता है।

(24) सर्वत्र परमात्मा का अनुभव होना ही सत्य दर्शन है। सत्य भाषण ऋत है।

(25) कहीं आसक्त न होना ही आंतरिक पवित्रता है।

(26) धर्म ही धन है।

(27) ज्ञान विवेक ही गुरु है।

(28) ज्ञानोपदेश ही गुरु दक्षिणा है।

(29) सद्ज्ञान को व्यवहार में न भूलना ही गुरु का स्मरण है।

(30) ज्ञान के प्रकाश में सब कर्म करना ही गुरु का ध्यान है।

(31) जिससे जीवात्मा परमात्मा का भेद मिटे, वही विद्या है।

(32) पाप से घृणा ही लज्जा है।

(33) सद्गुण ही जीवन का सौन्दर्य है।

(34) दुःख–सुख के बंधन से मुक्त होना ही आनन्द है।

(35) भोग सुख की कामना ही दुःख सिंधु का पथ है।

(36) सुखासक्त का त्याग ही शांति सिंधु का पथ है।

(37) स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् के तत्व का ज्ञाता तथा बंधन मुक्ति रहस्य का द्रष्टा ही पण्डित है।

(38) देहादिक वस्तुओं में ममता ही मूर्खता है।

सन्त–वचन– बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है। देहाभिमानी संसार का दास होता है। सत्य से भिन्नता, असत्य से अभिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान बढ़ता है। विवेक से अभिमान की निवृत्ति होती है।

****

शास्त्रोकृ अन्तर तत्त्व विज्ञान योग

हमें कई ग्रंथों के अध्ययन से शरीर विज्ञान का परिचय मिला है–

(1) तीन शरीर–(अ) स्थूल, (ब) सूक्ष्म, (स) कारण।

2) स्थूल शरीर में पच्चीस तत्वों का कार्य विवरण–

पंच महाभूत– आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी।

आकाश का कार्य– शोक, काम, क्रोध, मोह, भय।

वायु का कार्य– प्रसारन, धावन, बलन, चलन, आकुचन।

अग्नि तत्व का कार्य– निद्रा, तृषा, क्षुधा, कांति, आलस्य।

जल तत्व का कार्य– लार, पसीना, मूत्र, वीर्य, रक्त।

पृथ्वी तत्व का कार्य– रोम, त्वचा, नाड़ी, माँस, अस्थि।

(3) सूक्ष्म शरीर के पच्चीस तत्वों का विवरण

पंच महाभूत के नाम	वायु	आकाश	तेज	जल	पृथ्वी
पांच ज्ञानेन्द्रियाँ सतो	कान	त्वचा	चक्षु	रसना	घ्राण
पांच कर्मेन्द्रियाँ रजो	वाणी	हाथ	पैर	उपस्थ	गुदा
पांच अन्तःकरण	अंतःक0	मन	बुद्धि	चित	अहंकार
पांच प्राण	व्यान	समान	उदान	प्राण	अपान
पांच विषयक	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गंध

(4) पाँच वायु के स्थान

(1) प्राण–हृदय में (2) अपान–गुदा में (3) समान–नाभि में (4) उदान–कण्ठ में (5) व्यान–सर्वांग में।

(5) स्थूल शरीर के धर्म– जन्म, मरण, नाम, जाति, रंग, रूप, वर्ण, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम, आकार–यही स्थूल शरीर के धर्म है।।

(6) सूक्ष्म शरीर के धर्म– पाप पुण्य का कर्तापन सुख दुःख का भोक्तापना, लोक–परलोक के गमनागमन, भूख, प्यास, क्षमता, नम्रता, दया आदि सात्विक वृत्तियाँ, रागद्वेषादि राजसी वृत्तियाँ, जड़ता मोहादि तामसी वृत्तियाँ, अघता, मन्दता, पटुता।

(7) जागृत अवस्था की त्रिपुटी

इन्द्रियाँ तथा उनके देवता और उनके विषय का वर्णन

चौदह त्रिपुटी जाग्रत अवस्था की

अध्यात्म इन्द्रियो के नाम	अधि देवता के नाम	अधिभूत विषय
श्रोत्र = कान	दिशा	सुनना
त्वचा	वायु	स्पर्श करना
चक्षु	सूर्य	रूप देखना
रसना	वरुण	रस लेना
घ्राण	अश्विनीकुमार	सूंघना
वाणी	अग्नि	बोलना
हाथ	इन्द्र	लेना–देना

पैर	विष्णु	चलना
उपस्थ	प्रजापति	मूत्र–त्याग
गुदा	यम	मल–त्याग
मन	चन्द्रमा	संकल्प–विकल्प
बुद्धि	ब्रह्मा	निश्चय करना
चित्त	वासुदेव	चिन्तन करना
अहंकार	रुद्र	अहंता करना

(8) जब तक प्राण शक्ति का प्रवाह मन की वहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने पर, निरोध करने पर अन्तर का दर्शन होता है।

(9) शरीर के भीतर 9 चक्र हैं– (i) मूलाधार (ii) स्वाधिष्ठान, (iii) मणिपूर, (iv) अनाहत, (v) विशुद्ध, (vi) आज्ञा, (vii) विशुद्ध, (viii) तालु मूल, (ix) सहस्रार।

चक्रों के दलों में भिन्न–भिन्न वृत्तियाँ कार्य करती हैं।

(10) स्वाधिष्ठान चक्र–इसमें वृत्तियाँ हैंः–

अवज्ञा, मूर्छा, प्रश्रय, अविश्वास, सर्वनाश, क्रूरता।

(11) मणिपूर चक्र– इसमें 10 वृत्तियाँ हैं।

लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, काषाय, तृष्णा, मोह, घृणा, भय।

(12) अनाहत चक्र– इसमें 12 वृत्तियाँ हैं।

आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, विवेक, अहंकार, लोलुपता, कपट, वितर्क, अनुताप।

(13) विशुद्ध चक्र–इसमें 16 वृत्तियाँ हैं।

षडज, रिषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पंचम, निषाद, हुम् फट्, वौषट, वषट्, स्वाहा, नमः, विष, अमृतं।

(14) आज्ञा चक्र– इसमें 2 वृत्तियाँ हैं।

ज्ञान प्रकाश तथा स्मृति

(15) तालमूल ललना चक्र–इसमें इसमें 12 वृत्तियाँ हैं।

श्रद्धा, संतोष, स्नेह, उम, मान, अपराध, शोक, खेद, अरति, सम्भ्रम, ऊर्मि, शुद्धता और अमृत स्थली।

(16) छः चक्रों के नाम उनके लोक और बीज के नाम–

(अ) मूलाधार–भूलोक लं बीज (ब) स्वाधिष्ठान–भुवर्लोक, वं बीज (स) मणिपूर–स्वर्लोक, रं बीज (द) अनाहत–महर्लोक, यं बीज (घ) विशुद्ध–जनलोक, हं बीज (न) आज्ञा आत्म प्रतिबिम्ब।

(17) कुण्डलिनी शक्ति पिंगला नाड़ी में इच्छा शक्ति के रूप में गित कर रही है–यही जीवात्मा की गति है।

नाड़ियाँ व उनके कार्य

(18) शंखनी नाड़ी के भीतर पुरीतल नाड़ी है उसी में सुषुप्ति होती है।

(19) मेघा नाड़ी में निद्रा और स्वप्न दर्शन होता है।

(20) गान्धारी के साथ बाम नेत्र में मन का संयोग होता है।

(21) हस्ति जिह्वा के साथ दक्षिण नेत्र में मन का संयोग होता है।

(22) पूषा के साथ दक्षिण कर्ण में मन का संयोग होता है।

(23) यशस्वनी नाड़ी के साथ बाम कर्ण में मन का संयोग होता है।

(24) कुहू नाड़ी में मन का संयोग होने पर योगारम्भ होता है।

(25) सुषुम्ना नाड़ी में मन का संयोग होने पर योगारम्भ होता है।

(26) चित्रणी नाड़ी में समाधि होती है?

(27) नाभि चक्र तक भूलोक, नाभि चक्र से विशुद्धाख्य तक भुवर्लोक, विशुद्धाख्य से मायाचक्र तक स्वर्लोक की प्रकृति है।

(28) सब चक्रों को भेद कर ब्रह्म नाड़ी सहस्रार में मिली है।

(29) बाहर की ओर विषयों से या दृश्य से सम्बन्धित वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने के लिये नाभि चक्र में या हृदय चक्र में अथवा दोनों भौंहों के मध्य में सुरति जमाना सुन्दर साधना है।

(30) जब चित्त विषय सुखों की ओर जाता है तब नाभि चक्र में दृष्टि स्थिर करना चाहिये पुनः मन की सुरति लगाना चाहिये।

(31) जब चित्त भागवश करुणा, दया, सहानुभूति से प्रेरित होकर सम्बन्धियों का चिन्तन अधिक करने लगता हो, तब हृदय चक्र में मन की सुरति स्थिर करनी चाहिये।

मन हिरदे में रहत है, पवन नाभि के माहि।
इन्द्रिय रोके ये रुके, और कछु विधि नाहिं।।

(32) सहस्रार चक्र में विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म का अवस्थान है।

(33) ललना चक्र में विशुद्ध सत्वात्मिका त्रिगुणात्मिका इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्ति स्वरूपा चित् शक्ति महामाया का अवस्थान है।

(34) सहस्रार से आज्ञा चक्र तक शून्य का प्रवाह हुआ। वहां तक केवल सत् चित आनन्दस्वरूप परम तत्व है। उसका बोध पंच–कोष को पार करने पर परा बुद्धि द्वारा होता है। उसी को परम तत्व का ज्ञान कहते हैं।

(35) जो परम तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप है वही रजोगुणात्मक ब्रह्म माया शक्ति के संग से सोपाधिक होकर जीव संज्ञा बनती है।

(36) अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने पर अहं का स्फुरण होता है, यही जीव दशा हैं। जिस बुद्धि तत्व में सत्‌चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह बुद्धि तत्व चित्त शक्ति स्वरूप महामाया है– यही कुण्डनिली है।

(37) शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा की समष्टि को ही पुरुष करते है।

(38) शरीर के लिए अर्थ की, मन के लिये काम की, बुद्धि के लिये धर्म की और जीवात्मा के लिये मोक्ष की आवश्यकता हे।

(39) संकल्प विकल्पात्मक प्रज्ञान को मन कहते हैं।

(40) निश्चयात्मक विज्ञान को बुद्धि कहते हैं।

(41) मन का निर्माण चन्द्र के तत्व से और बुद्धि का निर्माण सूर्य के तत्व से हुआ है।

(42) अविद्या को ही कारण शरीर कहते हैं।

(43) विद्या और अविद्या–यही दोनों दैवी और आसुरी शक्ति हैं। इन्हीं के पारस्परिक संघर्ष को दैवासुर संग्राम कहते हैं, जो कि सदा जीव की सृष्टि में चलता ही रहता है। साधक को दैवासुर संग्राम देखना ही पड़ता है।

(44) जब तक प्राणों की बहिर्गति रहती है तब तक स्पर्शादि पांच वस्तुओं का ज्ञान होता ही रहेगा।

(45) सुरति योग के द्वारा प्राणों की, मन की अन्तर्मुखी गति होने पर ही जीव की ऊर्ध्वगति होती है।

(46) सत्वगुणात्मक चैतन्य ही भगवान है। उनका योगानुभव हृदय–चक्र में होता है।

(47) गुरु तत्व का योगानुभव आज्ञा चक्र में होता है। गुरु कृपा बिना ऊर्ध्वगति नहीं हो सकती। गुरु कृपा से ही जीव मायाचक्र को पार कर पाता है।

(48) शरीर के भीतर पीठ के मध्य में मेरुदण्ड है। इसी से परमात्मा की व्यापकता का अनुभव करने वाली अर्थात् चिन्मय व्यापक शक्ति को पकड़ने वाली एक नाड़ी है। उसी को ब्रह्मनाड़ी कहते हैं, वह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर है। मेरुदण्ड के भीतर छः चक्र हैं। यही छः शून्य बिन्दु स्थान हैं। शून्य से ही शब्द की उत्पत्ति होती है।

(49) नीचे के शून्य को ऊपर के शून्य से मिला देने वाली जो कोई भी साधना है, वह सर्वोपरि साधना है।

(50) जिस प्रकार व्यापक प्रकाश को नेत्र ही पकड़ पाते हैं, तथा व्यापक शब्द को श्रवण ही ग्रहण कर पाते हैं, व्यापक गन्ध को नासिका ही ग्रहण कर पाती है, उसी प्रकार व्यापक परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव सुषुम्ना के भीतर रहने वाली ब्रह्मनाड़ी के द्वारा ही हो पाता है।

(51) पुरुष रूपी कुण्डलिनी शक्ति सूर्य केन्द्र से और स्त्री कुण्डलिनी शक्ति पृथ्वी केन्द्र से आती है। मेरुदण्ड में दोनों शक्ति का योग होता है।

(52) कुण्डलिनी सत, रज, तम तीनों गुणों की जननी ब्रह्म शक्ति है।

(53) इच्छा, क्रिया, ज्ञान–इन तीनों नामों में यही शरीर के चक्रों में भ्रमण करती है।

(54) कुण्डलिनी से उत्पन्न नाद की परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी–यही चार अवस्थायें हैं।

(55) कुण्डलिनी के अन्तर्मुख और वहिर्मुख–दो मुख हैं। एक से सुषुम्ना द्वार को रोके है, दूसरे से श्वास–प्रश्वास लेती है।

(56) कुण्डलिनी शक्ति को जीवात्मा के साथ अनाहत पद्म में पहुंचाने से सालोक्त पद प्राप्त होता है। विशुद्ध पद्म में पहुचाने से सारूप्य पद एवं आज्ञा चक्र तक पहुंचाने से सायुज्य पद प्राप्त होता है। इससे ऊपर निरालम्बपुरी तक पहुंचाने से

आत्म–ज्योति के दर्शन ज्योति के मध्य में इष्टदेव के दर्शन होते हैं अथवा नाद में मनोलय करने से निर्वाण मुक्ति मिलती है।

(57) **नाभि के भेद**– (1) वायु का नाद, (2) नाड़ी की गति का, (3) हृदय की गति का, (4) रक्त की गति का, (5) मनोगति का, (6) प्राण की गति का नाद होता है।

शेष चार नाद दिव्य हैं।

(58) नाभि पर त्राटक करने से नाद सिद्ध होता है, दिन में तीन बार बैठना चाहिए।

(59) मनोरूपा इच्छा शक्ति के साथ जीव है। यही मनस्थ जीव पिंगला नाड़ी में संसार का बोध कर रहा है।

(60) वाम नासिका में इड़ा नाड़ी में आसुरी शक्ति का प्रवाह है।

(61) दक्षिण पिंगला नाड़ी में रजोगुणी विक्षेप शक्ति है।

(62) आज्ञा चक्र से माया चक्र तक सतोगुण है।

(63) माया चक्र से नाभि चक्र तक रजोगुण है।

(64) नाभि चक्र से मूलाधार तक तमोगुण है।

(65) मूलाधार में ध्यान करने से चित्त लय को प्राप्त होता है।

(66) स्वाधिष्ठान में कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करने से लय तथा आकर्षण की शक्ति आती है।

(67) मणिपूर में कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करने से सर्वसिद्धि मिलती है।

(68) अनाहत में ज्योतिस्वरूप हंस का ध्यान करने से जगत् वश में हो सकता है।

(69) विशुद्ध चक्र में निर्मल ज्योति का ध्यान करने से सर्वसिद्धियाँ मिलती है।।

(70) तालु मूल ललना चक्र दशक द्वार में ध्यान करने से मुक्ति मिलती है।

(71) आज्ञा चक्र में ध्यान करने से साधक मोक्ष पाता है।

(72) ब्रह्म रंध्र में ध्यान करने से निर्वाण पद मिलता है।

(73) सोम चक्र में सच्चिद्रूपा अर्ध शक्ति का ध्यान करने से मन का लय होता है।

(74) बायें स्वर से पूरक कुम्भक करने से नाद बढ़ता है।

(75) आत्मज्योति का दर्शन गुरु नेत्र खुलने पर गुरु कृपा से होता है।

(76) ब्रह्म रंध्र में सफेद कमल में गुरुदेव का ध्यान करने से आत्मदर्शन होता है।

(77) नाभि चक्र में दृष्टि रख कर कुम्भक उड्यान बन्ध बार–बार नित्य तीन बार आठ–दस मास करते रहने से योग साधना में सफलता मिलती है।

(78) उड्यान बन्ध तथा कुम्भक से प्राण अपान की गति सम होती है।

(79) प्रत्येक साधक को ऊपर के चक्रों का ध्यान करने से सफलता नहीं मिलती, इसीलिये नाभि चक्र या हृदय चक्र में सुरति लगा कर ध्यान करना चाहिये।

(80) शवासन से लेट कर दाहिने पैर के अंगूठे पर दृष्टि स्थिर करने से मन शीघ्र लय को प्राप्त होता है।

(81) श्वास के आते–जाते समय नाभि के स्पन्दन में मन लगाने से मन शान्त स्थिर होता है।

(82) ¬ ह्रीं–इस मन्त्र को नित्य 108 बार जपने से भूत शुद्धि होती है। साधनाभ्यास में बैठने के साथ प्रथम जप कर लेना चाहिये, ऐसा योगी महात्मा का मत है।

(83) प्लीहा चक्र की जागृति से सूक्ष्म शरीर की यात्राओं का स्मरण रहता है।

(84) नाभि चक्र की जागृति से सम्बन्धित शत्रु मित्र के मनोभावों का ज्ञान होता है।

(85) अनाहत (हृदय चक्र) की जागृति से दूसरों के सुख–दुःख का अन्तर्ज्ञान होता है।

(86) विशुद्ध (कण्ठ चक्र) की जागृति से दूर की ध्वनि या किसी की वार्ता का अन्तर्ज्ञान होता है।

(87) आज्ञा चक्र की जागृति से दूसरे स्थान अर्थात् दूर दर्शन की शक्ति आ जाती है, दिव्य दृष्टि हो जाती है।

(88) सातवें चक्र की जागृति से शरीर के बाहर निकल कर पुनः लौट आने की शक्ति आ जाती है।

(89) योग की प्रथम सिद्धि में स्थूल समाधि होती है।

(90) दूसरी सिद्धि में देवताओं की उपस्थिति होने लगती है उनसे अभीष्ट की पूर्ति का प्रलोभन आता है, अभिमान वृद्धि की सम्भावना रहती है, अन्तर्ज्योति का स्फुरण आरम्भ होता है–यही योगी की परीक्षा होती है।

(91) योग की तीसरी सिद्धि में संकल्प करते ही प्रलोभन की वस्तुयें उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भूतजयी शक्ति आ जाती है। प्रज्ञाज्योति प्रकट हो जाती है। यही सिद्धि की पूर्णता होती है। जीवन मुक्ति सुलभ होती है।

(92) योग की चौथी सिद्धि में त्रिगुणातीत अव्यक्त, परम पद की प्राप्ति होती है।

(93) योग की **अधम सिद्धि** में सुखद वस्तुओं की प्राप्ति, समाज में ख्याति, राजाओं द्वारा मान, ऐश्वर्य, आकर्षण, शक्ति; इसके अतिरिक्त पाण्डित्य, चमत्कार, रोगहरण, विषहरण–ये और भी अधम लक्षण हैं। योग की मध्यम सिद्धि में वैराग्य, मुमुक्षत्व, सर्ववश्यता, भोगेच्छा का अभाव, सर्वभूत दया, सर्वज्ञता आदि विशेषतायें आ जाती हैं। योग की उत्तम सिद्धि में प्राणियों में समता, द्वन्द्वों में समभाव, ब्रह्मचिन्तन में आनन्दानुभव, चित्त की निवृत्ति, अपलक दृष्टि, मधुरता, निर्विकार भाव, प्रसन्नता आदि विशेषता सुलभ रहती है।

(94) योगाभ्यासी के जीवन में प्राण शक्ति से हठयोग, मनःशक्ति से ध्यानयोग, क्रियाशक्ति से कर्मयोग भावनाशक्ति से भक्ति योग और बुद्धि से ज्ञानयोग की सिद्धि होती है।

(95) ध्यानाभासी के सामने भगवान के स्थूल रूप के ध्यान का स्थूल फल होता है, सूक्ष्म के ध्यान का फल सूक्ष्म होता है और परम रूप के ध्यान का परम फल सुलभ होता है।

(96) भगवत् प्राप्ति का अर्थ है पूर्णत्व की प्राप्ति।

(97) परिपूर्ण भगवान उसी को कहते हैं जो अविनाशी हो, जिसमें कहीं ज्ञान की, शक्ति की, स्वतन्त्रता की तथा आनन्द की, दिव्य गुणों की कमी न हो।

(98) मनुष्य की अभिलाषा है कि सच्चिदानन्द से अभिन्नता प्राप्त करे। साधना का उद्देश्य यही है कि नर नारायण के साथ तन्मय हो जाये।

(99) साधनाभ्यास का उद्देश्य है नर से नारायण में होने की तैयारी।

(100) जड़मय से दिव्य चिन्मय प्राप्त होने का जो पथ है उसी को योगपथ कहते हैं। योग के लिये ही साधन युक्त जीवन होना अनिवार्य है।

सन्त वचन– संसार में जितना भी सुख है चित्त की एकाग्रता का सुख है। यदि चित्त को अविनाशी परमात्मा में एकाग्र कर लिया जाय तो अविनाशी आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

****

भक्ति योग

योगीश्वर याज्ञवल्क्य का आदेश है–

'अयं तु परमोधर्मी यद्योगेनात्मदर्शनम' मानव–मात्र का परम धर्म यही है कि योग साधन से आत्म–दर्शन करे।

आत्मा को जान लेने पर परमात्मा से भिन्नता का भ्रम मिट जाता है। जीवात्मा परमात्मा की तत्वतः एकता की अनुभूति को ही अध्यात्मयोग कहते हैं।

अधिक से अधिक जप करने से, भाव सहित कीर्तन करने से, तीन या चार बार ध्यानाभ्यास करने से, भगवान के गुणगान में मन को तल्लीन रखने से, भक्ति चर्चा में तल्लीन रहने से, एकान्त में मौन रह कर तीन वर्ष या बारह वर्ष, एक प्रकार की साधन में दृढ़तापूर्वक लगे रहने से, प्राणों की गति में मन लगाये रहने से, अन्तरनाद में सुरति लगाने से, क्रमशः योग सिद्धि होती है। सिद्धि भी अनेक प्रकार की है।

अनेक सन्त महात्मा कलियुग में अन्य साधनाओं को दुर्गम बताकर भक्तियोग को ही सुगम बताते हैं।

भक्ति योग में श्रवण का महत्व

भक्ति योग के साधक को संत कथा अर्थात् भगवद् कथा श्रवण करते रहने के लिये विशेष प्रेरित किया गया है।

प्रत्येक मनुष्य आरम्भ से ही जो कुछ सुनता है, उसी के प्रभाव से रागी–द्वेषी बन जाता है। यदि कानों से बधिर नहीं है तो किसी न किसी वस्तु व्यक्ति के विषय में सुनता ही रहता है। सुनकर जो कुछ मन में भर लेता है उसी से सम्बन्ध जुड़ जाता है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है उसी का भोगी बनता है।

प्रत्येक वस्तु व्यक्ति परिवर्तनशील होने के कारण, विनाशी होने के कारण कभी न कभी छूट ही जाती है पर मन में उसका सम्बन्ध अथवा स्मरण बना रहता है उस सम्बन्ध के कारण ही मोह लोभवश विच्छेद का दुःख होता है, किसी को इस प्रकार के वियोग दुःख से बचना हो तो उससे सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है जो विनाशी न हो, जिसमें परिवर्तन न हो, उस सत्य का अविनाशी का ज्ञान होना आवश्यक है और उस अविनाशी सत्य के विषय में सर्वप्रथम श्रवण करना आवश्यक है, इसीलिये सत् कथा श्रवण की विशेष महिमा गाई गई है। पढ़ने की अपेक्षा संत, महात्मा, आचार्य से सुनना अधिक उत्तम है सुनने के अनुसार अपने आप को देखना बहुत ही उत्तम है।

अनेक साधक किसी भय से बचने के लिये सुनते हैं अनेक साधक किसी विशेष लाभ के लोभवश सुनते हैं–ऐसे साधक कथा सुनकर भी लोभी, मोही, अभिमानी ही बने रहते हैं सत्य प्रभु के प्रेमी नहीं हो पाते। किसी साधक का लोभ, मोहवश कथा में मन लग जाना ही पर्याप्त नहीं है। कथा का वास्तविक लाभ तो तभी होता है जब कोई बुद्धियोग पूर्वक चित्त लगाकर सुनता है, उसे ही सत् कथा श्रवण

द्वारा संसार की परिवर्तनशीलता, नश्वरता एवं संयोग जनित सुख की क्षण भंगुरता का और नित्य प्राप्त अविनाशी परमात्मा का विवेक होता है, इस प्रकार के विवेक से ही संसार के विनाशी नाम रूपों से वैराग्य और अविनाशी परमात्मा के स्वरूप में अनुराग होता है।

विनाशी नाम रूपों में रागी मोही मन को उर से हटाने के लिये अविनाशी का नाम एवं स्वरूप की महिमा सुनना एक सरल साधन है।

यदि लक्ष्य का विवेक नहीं तो सत् कथा श्रवण भी मन का भोग बना रहता है, नित्य सत्य के योग का साधन नहीं बन पाता है।

जब परमात्मा से कभी किंचित भी दूरी नहीं रह जाती नित्य निरन्तर परमात्मा प्राप्त ही अनुभव होता है यही ज्ञान है और जिस परमात्मा की प्राप्ति का ज्ञान है उसी के प्रति समग्र प्रीति हो जाना भक्ति योग है।

भक्ति योग की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम परमात्मा के विषय में श्रवण करना होता है। सुनते–सुनते ही सम्बन्ध जुड़ता है, जो कुछ सुना जाता है उसी का मनन होता है। जिसका मनन होता है वाणी द्वारा उसी का कथन कीर्तन चलता है।

परमात्मा की भक्ति चाहने वाले साधक को परमात्मा के विषय में मन, चित्त, बुद्धि लगा कर भक्तों के द्वारा प्रेम पूर्वक श्रवण करना चाहिये।

आचार्य द्वारा जो कुछ प्रभु चरित्र सुना गया हो उसे आचार्य के सन्मुख कहकर सुनना चाहिये, इससे यथार्थ या अयथार्थ समझ का निर्णय होता है।

प्रायः अनेक श्रोता सुनते–सुनते ज्ञानी होने का अहंकार कर बैठते हैं परन्तु सत्य असत्य समझने का निर्णय नहीं कर पाते। जो अच्छे श्रोता होते हैं वही परमात्मा की भक्ति योग का विवेक प्राप्त कर पाते हैं।

भक्ति योग की साधना में देखना सुनना बोलना, करना लेना, देना मानना, जानना नहीं छुड़ाया जाता, केवल सम्बन्ध एवं दिशा में परिवर्तन किया जाता है।

भोगी जो कुछ करता है वह संसार तथा शरीर अथवा परिवार से सम्बन्धित होकर करता है ओर भक्ति योगी सब कुछ भगवान से सम्बन्ध जोड़कर भगवान के लिये ही करता है।

भक्ति योग की सिद्धि के लिये साधक भगवद् चर्चा अथवा भगवद् चरित्र सुनता रहता है, भगवद् कथा को कहते हुए सन्तुष्ट रहता है, भगवान को ही अपना मानता है और उन्हीं का स्मरण, उनके ही ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य का मनन करता है। सब में भगवान की ही निर्विकार चेतना का अनुभव करते हुए सभी प्राणियों की यथा शक्ति सेवा के अवसर खोजता रहता है। मन ही मन सब में उन्हीं प्रभु की सत्ता को नमस्कार करता है, अपने को अकिंचन सेवक मान कर सेवा में तत्पर रहता है। प्रभु की अखण्ड सत्ता में अपने आपको

अनुभव करते हुए, अपने से अभिन्न जानते हुए प्रभु के ही अखण्ड ज्ञान में अपने अहंकार को देखता है। भक्ति योग का साधक ज्ञानी ध्यानी, तपस्वी, त्यागी, संन्यासी बनकर अहंकार को तृप्त नहीं करता, प्रत्युत अहंकार का ही ज्ञान प्राप्त कर उसे अनन्त में समर्पित देखते हुए सन्तुष्ट रहना चाहता है।

****

परमार्थी

जीवन सफल है जग में उन्हीं का, परमार्थ पथ में जो आ रहे हैं।।
वह धन्य है जो मन को विरागी, हृदय अनुरागी बना रहे हैं।।
वह मुक्त होंगे बन्धन दुःखों से, जो त्याग पायेंगे दोष अपने।।
वे हैं अभागे जो तन में धन में, आसक्ति ममता बढ़ा रहे हैं।।
कुछ भी न पायेंगे वे जगत में, जगत के पीछे जो दौड़ते हैं।।
ये जग न उनको पकड़ सकेगा, जो जग से आशा हटा रहे हैं।।
उन्हीं के सब काम पूरे होंगे, जो काम आते हैं दूसरों के।।
उन्हीं को सर्वोपरि पद मिलेगा, जो चाह सारी मिटा रहे हैं।।
हैं श्रेष्ठ मानव वही जगत में, किसी से जो कुछ न चाहता हो।
वही हैं दाता जो लेने वालों को, नित्य ही देते जा रहे हैं।।
वही हैं स्वाधीन नित्य निर्भय हैं, जिनके वश में मन और इन्द्रिय।
पथिक परम तृप्त अपने ही में, जो अपने प्रियतम को पा रहे हैं।।

हरिनाम संकीर्तन योग

आत्म कल्याण चाहने वाले साधक के लिये जब सहजयोग, समाधियोग, ध्यानयोग, धारणा, प्राणायाम की साधना दुष्कर प्रतीत होती हो, जब स्मरण जप में भी रजोगुणी मन न लगता हो तब नाम संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन है।

बहिर्मुखी रजोगुणी मन की वृत्तियाँ संकीर्तन से सतोगुणी भावना में बदल जाती हैं। तमोगुणी स्वभाव के व्यक्ति भी सौभाग्योदय होने पर संकीर्तन करने लगते हैं। तब प्रथम तो उनके मन में मान और धन लाभ की ही कामना रहती है किन्तु कुछ कल तक हरिनाम संकीर्तन करते हुए क्रमशः उनकी तामसी भावना में सतोगुणी भाव उतरने लगते हैं और वाणी तथा श्रवण पवित्र होने के साथ–साथ मन भी शुद्ध होने लगता है।

संकीर्तन प्रेमी यदि पापों के प्रभाव से संकीर्तन छोड़ नहीं देगा तो अवश्य ही पाप प्रवृत्ति से छुटकारा मिल जायेगा।

संकीर्तन करने वाले साधक पर प्रथम भगवान की दया होती है उसकी छोटी–छोटी कामना वासना पूर्ण होती है पुनः आगे चल कर कृपा भी होती है, जिससे कि उसे सन्त का सुसंग होता है उसी के प्रभाव से उसमें विवेक जाग्रत होता है। संकीर्तन प्रेमी को जब सन्त–समागम सुलभ हो तब सावधान बुद्धि से भगवान की, अर्थात् भगवद् नाम की कृपा समझनी चाहिये। संकीर्तन दूसरों को रिझाने के लिये अपनी कला दिखाने के लिये अभिमानपूर्वक नहीं करना चाहिये।

हरिनाम के प्रेमी भक्तों का आग्रह है कि प्रभु चर्चा छोड़कर कभी प्रपंच चर्चा न करो, न सुनो।

प्रत्येक नर—नारी किसी न किसी वस्तु से अथवा व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़े हुये हैं जिस किसी से प्रीति पूर्वक सम्बन्ध होता है उसी का स्मरण, कीर्तन, मनन एवं चिन्तन अनायास ही चलता रहता है और जिसका स्मरण कीर्तन चिन्तन होता है उसी का मन पर, चित्त पर प्रभाव पड़ता है। तमोगुणी, रजोगुणी, सतोगुणी वस्तु, व्यक्ति के स्मरण कीर्तन तथा चिन्तन करने वाले पर उसी गुण की वृद्धि होती है इसीलिये साधक सर्व सद्गुण ज्ञान से परिपूर्ण भगवान का स्मरण करते हैं, उन्हीं की लीलाओं का, दिव्य गुणों का अर्थात् कीर्ति का गान करते हैं इस प्रकार कीर्तन स्मरण के प्रभाव से साधक में वही सद्गुण एवं दिव्य भाव जाग्रत होते जाते हैं जो कि प्रभु में देखे जाते हैं।

केवल वाणी से गुण, संकीर्तन से वाणी पवित्र होती है। मनोयोगपूर्वक संकीर्तन करने से मन पवित्र होता है बुद्धि योग पूर्वक संकीर्तन करने से भगवान तत्व रूप से ज्ञान होता है।

साधक की भावनानुसार ही संकीर्तन का उत्तम, मध्यम, अधम फल होता है।

जो भोगी स्त्री को धन का भाव बढ़ा देता है उसका मन स्त्री में धन में लगा रहता है, परमेश्वर में नहीं लग सकता।

तमोगुण—प्रधान व्यक्ति हरिनाम एवं गुण संकीर्तन से इच्छित भोग वस्तु अथवा धन प्राप्त करके ही सन्तुष्ट होते हैं।

रजोगुण–प्रधान व्यक्ति संकीर्तन हरि गुण गान द्वारा मान बड़ाई पूज्य पद प्राप्त करके तृप्त होते हैं।

सतोगुण–प्रधान साधक भगवद् नाम अथवा गुण संकीर्तन से सात्विक भावों से सम्पन्न होकर कृतकृत्य होते हैं।

जितनी देर कोई हरिनाम संकीर्तन करता है उतनी देर तक प्रपंच चर्चा, व्यर्थ वार्ता आदि वाणी के पापों से बचा रहता है और हरिनाम प्रेमी देवताओं की उस पर दृष्टि पड़ती है, साथ ही संकीर्तन द्वारा तमोगुणी व्यक्ति का आलस्य और रजोगुणी चित्त की चंचलता निवृत्त होती है।

तमोगुणी मन अन्य साधनाभ्यास से निद्रा से घिर जाता है। रजोगुणी मन में ध्यानाभ्यास काल में पूर्व स्मृतियों तथा भविष्य के संकल्प तीव्र हो जाते हैं। इसीलिये हरिनाम संकीर्तन द्वारा आलस्य तथा जड़ता की निवृत्ति होती है, पवित्र भावों की तथा शुभ संकल्पों की प्रधानता रहती है।

प्रभु की कृपानुभूति के लिये उनके नामों का गुणों का कीर्तन करना आवश्यक है। प्रपंच चर्चा नहीं करनी चाहिये।

जो व्यक्ति धन पाने के लिये दूसरों को अपनी कला से प्रसन्न करने के लिये अपने अहंकार को तृप्त करने के लिये देखा–देखी कीर्तन करते हैं उनकी वाणी तथा कर्णेन्द्रिय तो पवित्र होती है, परन्तु मन शुद्ध नहीं होता, इस प्रकार के लोगों का संकीर्तन योग का साधन न होकर भोग का साधन बना रहता है।

परमेश्वर की विभूतियों के ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य सम्बन्धित कथा श्रवण तथा उनके यश का कीर्तन, प्रीतिपूर्वक मन, चित्त, बुद्धि लगा कर जो कोई करता है उसी के मन में, चित्त में भगवद् भावना भर जाती है, उसी की बुद्धि में भगवद् तत्व की जानकारी बढ़ती जाती है एवं उसी साधक का अहंकार भगवान की शरण स्वीकार करता है।

जिस संकीर्तन से मन में सांसारिक नाम रूपों से वैराग्य बढ़े चित्त में परमात्मा में अनुराग बढें, बुद्धि में तत्व का ज्ञान बढ़ता जाये और अहंकार परमात्मा के अर्पित हो जाये—यही संकीर्तन योग है।

कीर्तन भी रागी मन को मूर्छित करने का सुगम साधन है। कीर्तन वही उत्तम है जो एकाकी किया जाये जो कीर्तन दूसरों को रिझाने के लिये होता है वह योग का साधन न होकर भोग का साधन बनाता है।

बुद्धि दृष्टि का सदुपयोग

ओ देखने वाले तू अपने ज्ञान को भी देख ले।
उस निज स्वरूप ज्ञान के, अज्ञान को भी देख ले।।
इन्सान में हैवान को, शैतान को भी देख ले।
तू ऐसी दृष्टि प्राप्त कर, भगवान को भी देख ले।।
सुनते हुए कहते हुए, सब जानते हुए भी।
तू अपने अहंकार के अभिमान को भी देख ले।।
परमात्मा के ध्यान में, जब मन नहीं लगता है।
वह लगा हुआ कहीं, उस ध्यान को भी देख ले।।
जिसमें सभी आरम्भ हैं, और अन्त हैं जिसमें ही।

उस सर्वमय अनन्त, शक्तिमान को भी देख ले।।
नश्वर को सत्य मानना, यह तो है अविद्या ही।
विद्वान है तो नित्य, विद्यमान को भी देख ले।।
जो कुछ तुझे मिला है, दाता है कोई उसका।
उसकी दया को और, उसके दान को भी देख ले।।
कितना कुशल है वह, प्रभु अपने को छिपाने में।
तू पथिक उस महान के, सुविधान को भी देख ले।।

****

जप योग

परमात्मा की महान् शक्ति सर्वत्र व्याप्त है उसकी सत्ता से रहित कुछ भी नहीं है यदि हम भूल न जायें तो सर्वत्र उसका अनुभव कर सकते हैं वही सर्वमय है, वही हममय है।

हम चाहें तो किसी भी शब्द में तथा शब्द स्वरूप मन्त्र में परमात्मा की अद्‌भुत शक्ति का चमत्कार देख सकते हैं।

सन्त महात्मा प्रायः साधकों को नाम जप, मन्त्र जप की प्रेरणा देते हैं। किसी शब्द को, मन्त्र को विधिपूर्वक भाव सहित जपने से जापक की अभिलाषा पूर्ण होती है क्योंकि जप के द्वारा शक्ति केन्द्रित होती है। शक्ति के द्वारा ही साधक को सिद्धि सुलभ होती है क्योंकि समग्र शक्ति अनन्त शक्तिमान की ही है।

शक्ति ही भिन्न–भिन्न देवताओं के रूप, सृष्टि का सृजन संरक्षण और संहार करती रहती है।

भिन्न–भिन्न देवताओं से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये मन्त्रों के जप अनुष्ठान का विधान प्रचलित है।

मन्त्र जप अथवा अनुष्ठान के द्वारा मन को जोड़ना ही मंत्र योग है। मंत्र जप के द्वारा जब मन की बहिर्मुखी विषयाकार, दृश्याकार हुई वृत्ति अनन्त अखण्ड सत्ता में शान्त होती है, तभी योग होता है।

साधना योग से ही अखण्ड सत्ता से अभिन्नता होती है। सत्ता से सम्बन्धित मन में जो कोई संकल्प उत्पन्न होता है वह शीघ्र पूरा होता

है। इसीलिये मंत्र योग से कामनाओं, अभिलाषाओं की पूर्ति होने की आशा लेकर अनेक साधक मंत्र जाप का अनुष्ठान करते हैं।

मंत्र जप करने में जितनी अधिक एकाग्रता, दृढ़ता और सिद्धि के लिये अटूट धैर्य और प्रतीक्षा होती है उतनी शीघ्रता से जप में सफलता मिलती है।

मंत्रानुष्ठान करने वाले के मन में यदि किसी से प्रबल मोह होगा या ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध की वृत्तियाँ उमड़ती रहेंगी तब तो दैवी गुणों की, ज्ञान की अथवा प्रेम भक्ति की प्राप्ति देर से मिलेगी। कामी, क्रोधी, लोभी, मोही व्यक्ति को वशीकरण, मारण, अधमर्षण, उच्चाटन आदि के मंत्रों से कामना पूरी हो सकती है क्योंकि तमोगुणी, रजोगुणी, सतोगुणी प्रकृति के देवता होते हैं ओर तदानुसार मंत्र भी होते हैं।

नाम जप में विशेष विधि–विधान की आवश्यकता नहीं है किन्तु मंत्र जप में विशेष विधि संस्कार अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। दैवी शक्तियों के साथ गुप्त परामर्श को मंत्र कहते हैं। गुरु के माध्यम से ही गुप्त परामर्श रूपी मंत्र से सिद्धि मिलती है। मंत्र में जो अक्षर होते हैं उनके कम्पन से साधक के अन्तर में सुप्त शक्तियों की जाग्रति होती है। मंत्र द्वारा अन्तर में मन्थन होता है उस मंथन से ही जन्मान्तरों के पापों का नाश होता है और परमेश्वरीय दैवी गुणों की वृद्धि होती है, आत्मज्ञान निष्काम प्रेम द्वारा जीवन आनन्दमय हो जाता है।

अवश्य ही मंत्र के जापक में श्रद्धा, तत्परता, संयम, नियम में दृढ़ता और अन्तर वाह्य पवित्रता की आवश्यकता रहती है।

मंत्रानुष्ठान में देवालय, नदी तट गुहा, गिरि शिखर तथा पीपल–ऑवला के वृक्ष अधिक अनुकूल रहते हैं।

मन्त्र सिद्धि के बारह नियम

(1) भूमिशयन (2) ब्रह्मचर्य (3) मोन (4) गुरु सेवन (5) त्रिकाल स्नान (6) पाप कर्म का परित्याग (7) नित्य पूजा (8) नित्य दान (9) देवता की स्तुति एवं कीर्तन (10) नैमित्तिक पूजा (11) इष्टदेव अथवा गुरु में विश्वास (12) जप निष्ठा।

इन नियमों का पालन अत्यावश्यक रहता है। मंत्र जापक का आहार सतोगुणी तथा स्वल्प होना चाहिये।

मंत्र जप करने वाले को असत्य भाषण, कठोर वचन बोलना, व्यर्थ वार्ता करना, अपनी प्रशंसा करना दूसरों की निन्दा करना आदि वाणी के पापों का त्याग करना चाहिये।

मंत्र जापक को ऐसी कोई वस्तु न स्वीकार करना चाहिये जिसके पीछे किसी प्राणी को दुःख हो रहा हो। बहुत महंगे फल अथवा अधिक कीमती वस्त्र भी न लेना चाहिये। जिस गाय का बच्चा मर गया हो अथवा जिस गाय का सब दूध दुह लिया जाता हो उसके बच्चे को न दिया जाता हो ऐसा दूध भी न पीना चाहिये।

जप करते समय बोलना, इधर–उधर देखना, सिर हिलाना और हंसना मना है।

जो साधक उच्च स्वर से मन्त्र बोलता है, जिसे दूसरे व्यक्ति सुन सकते हों उसे वाचिक जप कहते हैं। कुछ लोग वाचिक जप को श्रेष्ठ नहीं मानते परन्तु अनुभवी जनों की सम्मति है कि, आरम्भ में वाचिक जप द्वारा मन शीघ्र एकाग्र होता है। जिस प्रकार मन जप में लगे, वही उत्तम है।

जब साधक उच्चारण न करके केवल ओठों से ही स्वयं सुनते हुए जप करता है दूसरे को नहीं सुनाई देता उसे उपांशु जप कहते हैं। इस जप से प्रत्येक अंग में ऊष्णता बढ़ती है, स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश मिलता है जिससे भविष्य के स्वप्न आने लगते हैं।

कोई साधक भ्रमर की भांति गुंजार करते हुए जप करते हैं इसे भ्रमर जप कहते हैं इस जप में भी मन की वृत्तियों का लय होता है, पूरक रेचक प्राणायाम स्वतः होता रहता है। अन्य लाभ भी कई हैं, करने वाले स्वतः देखते हैं।

कुछ साधक मन में ही जप करते रहते हैं इसमें मन्त्रार्थ चिन्तन आवश्यक है इसे मानस जप कहते हैं। इस जप को सतोगुणी साधक ही कर पाते हैं रजोगुण को सतोगुण में बदलने में मानस जप अधिक सहायक है। यह नरद्रानुसंधान में विशेष सहायक है।

अनेक संतों के मत से जप योग सभी के लिये सुगम साधन है। मुझे जप से बहुत कुछ साधन–पथ में प्रगति मिली है। जप के द्वारा

मन तभी एकाग्र होता है जब विश्वास में दृढ़ता होती है। एक बालक में जितना सरल विश्वास होता है उतना किसी विद्वान में नहीं पाया जाता इसीलिये भावना प्रधान तथा विचार प्रधान एवं कर्म प्रधान साधकों के लिए अपने अनुकूल साधन का निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक होता है।

समस्त साधन मन के ही निग्रह के लिये हैं। मन जब तक देहादिक वस्तुओं का तथा विषय सुखों का संयोगी रहता है तब तक वह भोगी माना जाता है और जब मन अपने से भिन्न के संयोग से अनासक्त होकर अभिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा में शान्त समाहित होता है, तभी योगी कहा जाता है।

भगवद्गीता में भी कहा है कि मन जब आसुरी सम्पत्ति, अर्थात् वृत्तियों से युक्त होता है तब वह बन्धन का करण है और जब वही मन देवी सम्पत्ति, अर्थात् दया, उदारता, सरलता, नम्रता, सहिष्णुता प्रीति, विवेक आदि दैवी वृत्तियों से युक्त होता है तब वही मन मोक्ष का हेतु बन जाता है।

हमें यह भी बताया गया है कि परमप्रभु के नाम रूप का आश्रय लेकर अपने को भूल जाना पूर्ण योग नहीं है, अहं के विस्मरण मात्र से अहंकार नहीं मिटता। ऐसे अनेक साधक हैं जो प्रीति को सब ओर से समेट कर एक रूप के तथा अलौकिक लीलाओं दिव्य गुणों के चिन्तन में अपने आपको भूले रहते हैं, भाव के आवेश में सांसरिक प्रभाव उन पर नहीं पड़ता है। फिर भी यह रसास्वाद सापेक्ष ही है निरपेक्ष नित्य

आनन्दानुभव नहीं है। इसीलिये स्व को भूल रहने की अपेक्षा अपने आपको देखना ही अहंकार को मिटाने का उपाय है। जब अहंकार नहीं रह जाता है तब जो शेष रहता है वह परमात्मा है। मैंने सुना था कि परमप्रभु की प्राप्ति अहं के विस्मरण से नहीं, विसर्जन से होती है।

जिस साधक का प्रेम बाल्यकाल से ही कहीं बिखरा नहीं हो वह दृढ़ संकल्प द्वारा प्रभु के प्रति जिस रूप की भावना करेगा, प्रेम योग से जहाँा कहीं चित्त एकाग्र करेगा वही उसके समक्ष साकार हो जायेगा इसीलिए भाव योगी अपनी–अपनी भावनानुसार प्रत्यक्ष दर्शन का रस लेते हैं जहाँ दूसरे असाधक को कुछ नहीं दीखता, वही भावयोगी को साकार उपास्यदेव दिखता है।

तात्विक विवेचन में तो सत्य, नाम रूप से अतीत है, सत्य का कोई नाम कोई रूप नहीं इसीलिये सर्वनाम रूपमय है, फिर भी साधक अपनी मति अनुसार जगत के नाम रूप में आसक्त है इसीलिये विनाशी नाम रूप से आसक्ति हटाने के लिए अविनाशी में नाम रूप आरोपित करना होता है क्योंकि अनन्त नामों, रूपों के पीछे सत्य तत्व तो एक ही है जिसका कोई एक नाम तथा एक रूप नहीं हो सकता।

समस्त सृष्टि के भीतर जो सबका आश्रय है उसे परमात्मा कहते हैं। व्यष्टि देह में व्यापक तत्व को आत्मा और समष्टि सृष्टि में व्यापक सत्य को परमात्मा कहा गया है। उसी परमात्मा के चिदंश को त्रिगुणमयी प्रकृति के भीतर भोग माया के साथ जीव संज्ञा दी जाती

है और त्रिगुणातीत योग माया के साथ शुद्ध चिन्मात्र सत्ता को ईश्वर परमेश्वर नामों से पुकारा जाता है।

उसी परमेश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये नाम जप किया जाता है और परमेश्वर की शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भी मंत्र जप किया जाता है।

वैसे तो हम निरन्तर, अखण्ड, अनन्त, परमात्म सत्ता में ही है परन्तु उस परमात्मा से विमुख रह कर हम अपने को भी नहीं जानते प्रत्युत जो कुछ अन्य है, पर है, उससे अपने को मिलाकर उस 'पर' से तन्मय होकर उस रूप को ही अपना रूप मान रहे हैं, यही परतन्त्रता है।

हम भले ही अमृत में हैं किन्तु जिस मन के हम संगी हैं, वह निरन्तर विषय विष में ही रमता रहता है, हम भले ही नित्य शाश्वत में हों किन्तु हमारा मन सदा विनाशी वस्तुओं के संयोग से सुख मानता रहता है। हम तो सदा उसी में हैं जो निरन्तर वर्तमान में है किन्तु हमारा मन सदा भूतकाल और भविष्य काल ही मनन–चिन्तन करता है।

हम जैसे कर्म करते हैं, जैसी भावना रखते हैं अथवा जैसे हमारे विचार होते हैं उसी के अनुसार शुभ–अशुभ परिणाम भोगना पड़ता है इसीलिये अनुभवी संत हमें कर्म द्वारा, वाणी द्वारा, मन द्वारा, शब्दों एवं मंत्रों के सहारे दिव्य शक्तियों से संबंध जोड़ने के लिये प्रेरित करते हैं।

मंत्र जप करते हुए शब्दों के अर्थ का मनन तथा भाव का योग और विधि का ध्यान आवश्यक है। मंत्र जप करते हुए जितनी तत्परता से मन की वृत्तियाँ सिमटेंगी, अर्थात जितनी अधिक एकाग्रता होगी उतनी शीघ्रता से सफलता सुलभ होगी। जितनी गहरी याद होती है, उलट कर वही दया बन जाती है।

मंत्र जप करने का परिणाम प्रायः बहुत दूर तक अदृश्य ही रहता है। जप करने वाला साधक निराश होने लगता है। कोई साधक निराश होकर जप छोड़ देता है क्योंकि उसे इच्छित लाभ नहीं दीखता।

जप करने वाले साधक को धैर्य के साथ दृढ़ संकल्प के साथ पवित्रतापूर्वक विश्वास रखकर जप करते रहना चाहिए क्योंकि जप का परिणाम जपकर्ता को भले ही न दिखाई दे फिर भी मंत्र के देवता को उसके जप का तथा जप करने वाले की कामना का एवं जपकर्ता के पूर्व में किए गए कर्म भोग की अवधि का ज्ञान रहता है इसीलिए नियमानुसार ही देवता पुरस्कार तथा दण्ड देते हैं।

मंत्र के द्वारा साँप काटने का, बिच्छू काटने का विष उतरता है। मंत्र के द्वारा प्रेत, भूत, पिशाच, ब्रह्मदेव का आवेश उतरता है। मन्त्र के द्वारा वशीकरण होता है उच्चाटन भी होता है।

जिस प्रकार मंत्र के विविध प्रयोग से विविध विष की अथवा अपेक्षा की निवृत्ति होती है उसी प्रकार गुरुमंत्रों द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोहादि आवेगों की निवृत्ति होती है।

गुरु मंत्र द्वारा 'स्व' का ज्ञान होने पर दोषों से मुक्ति मिल जाती है।

चतुर मनुष्य किसी को आकर्षित करने के लिये, उसे स्ववश करने के लिये उसके अनुकूल वाक्यों का प्रयोग करता है। कुछ वाक्य ऐसे हैं जिनके प्रयोग से पशु, प्राणी भी वश में हो जाता है कुछ वाक्य ऐसे भी हैं जिनके प्रयोग से मनुष्य का मन विपरीत हो जाता है इसीलिये प्रत्येक शब्द में शक्ति है।

स्थूल जगत में कार्य सिद्धि के लिये शब्दों का प्रयोग सभी बुद्धिमान जानते हैं परन्तु सूक्ष्म जगत में अदृश्य शक्तियों के द्वारा सफलता प्राप्त करने के मंत्र जानने वाले केवल अध्यात्म विद्या के ज्ञाता ही होते हैं।

लोभी, मोही, कामी, प्राणी अपनी–अपनी पूर्ति के लिये जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे सब उनके मंत्र ही हैं।

मंत्र द्वारा देवता का स्मरण करो दैवी शक्ति आपकी सहायता करेगी। यह भी समझ लेना कोई देवता आकर आपका कार्य नहीं करेगा वह तो आपके ही मन में, बुद्धि में अथवा तन में प्रविष्ट होकर आपकी सहायता करेगा। कहीं–कहीं दैवी शक्ति उसी रूप में होकर आपका कार्य पूर्ण कर देगी जिस रूप नामधारी व्यक्ति से आपका सम्बन्ध होगा।

एक गाड़ीवान माल बेचने जा रहा था। उसकी गाड़ी मार्ग के नाले में फंस गई, बैल वहीं रुक गए। वह थककर एक किनारे बैठकर

हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा। उसका विश्वास था कि पाठ करने से सभी संकट मिट जाते हैं। अनेक पाठ पूरे होने पर एक वृद्ध ब्राह्मण उधर से निकले। पाठ करते देखकर दलदल में गाड़ी खड़ी होने का कारण जानकर समझाया कि हनुमान जी गाड़ी खींच कर बाहर नहीं करेंगे, तुम पुनः गाड़ी में जोर लगाओ मैं भी सहारा दूंगा क्योंकि मानवीय पुरुषार्थ को आशीष प्राप्त है। ऐसे उत्तम वचन सुनकर गाड़ीवान ने अपना पुरुषार्थ लगाया जिससे उसकी गाड़ी दलदल से निकल गई। हनुमान जी उसी गाड़ीवान के भीतर बैंलों के भीतर कार्य सिद्धि के साधन बन गए।

देह के भीतर मेरुदण्ड में लगे हुए कई ऐसे केन्द्र हैं जिनमें क्रमशः मन को संयमित करने से कई प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।

शक्ति प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के मंत्र प्रचलित हैं। कुछ मंत्र ऐसे हैं जो विद्या प्राप्ति में सहायक हैं, कुछ मंत्र धन प्राप्ति में सहायक हैं, कुछ मंत्रों के जप अनुष्ठान से रोग की निवृत्ति होती है। मनोयोगपूर्वक जप से सिद्धि मिलती है। मनुष्य सभी प्रकार की सफलतायें श्रम के साथ–साथ मंत्रानुष्ठान द्वारा मन को संयमित करते हुए शीघ्रता से प्राप्त कर सकता है।

प्रत्येक शब्द के पीछे एक अखण्ड अनन्त सत्ता विद्यमान है उसी सत्ता से भिन्न–भिन्न शब्दों में तदनुरूप शक्ति क्रियान्युत होती है।

अनेक एकाक्षर मंत्र हैं जैसे कि क्लीं, थीं, àha, हूं, àka, àksa आदि जितने अक्षर हैं उतने वर्णों की शक्ति उन अक्षरों द्वारा प्रस्फुटित होती है।

मंत्र के अनुभवी सन्तों ने मन्त्र जप की संख्या निर्धारित कर दी है। जिस प्रकार टेलीफोन के भीतर एक ही विद्युत शक्ति व्यापक है परन्तु जिस किसी से बात करना होता है उसका नम्बर मिलाना होता है शक्ति के रहते नम्बर न मिले तो वार्ता नहीं हो सकती उसी प्रकार 108 अथवा 1008 अथवा दस हजार बीस हजार एक लाख आदि संख्या में जप करने से देवता से सम्बन्ध जुड़ता है। माला घुमाना फोन चक्र घुमाने की भांति नम्बर मिलाने के लिये सहायक होता है।

कल्याण मासिक पत्रिका में किसी श्रद्धालु ने लिखा है–

मूक होहि बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयालु, द्रवउ सकल कलि मल दहन।।

इस दोहे के जप से गूंगे की वाणी काम करने लगी वह बोलने लगा। मंत्र जापक में आस्था, श्रद्धा, विश्वास, दृढ़ होना चाहिये। शक्ति का केन्द्र तो वह स्वयं ही है केवल केन्द्र से सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक होता है। शक्ति का नित्य सम्बन्ध अखण्ड अनन्त से है, जप स्मरण द्वारा उसी अनन्त से तार जुड़ता है।

आर्त (दुःखी) और अर्थार्थी (लाभ के लोभी) जनों को आचार्य जन यही उपाय बताते हैं कि जब तुम अनिवार्य संकट से घिर जाओ तब धैर्य एवं दृढ़ विश्वास पूर्वक अन्तरस्थ आत्मा परमात्मा से ही प्रेम पूर्वक

प्रार्थना करो, किसी नाम एवं मंत्र द्वारा अन्तरस्थ प्रभु से सम्बन्ध स्थापित करो। सन्त का मत है–

जपहिं नाम जन आरत मारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।।

कुछ श्रद्धालु संकट के समय मंत्र की भांति यही जप करते हैं–

दीन दयाल विरद सम्भारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी।।

दुर्गा शप्तशती पुस्तक जो गीता प्रेस से निकली है, उसमें अनेक प्रकार की सफलता के लिये कई मन्त्र अन्त में लिखे हुए हैं।

एक साधु ने बताया था कि कहीं यात्रा करो तो इस मन्त्र का जाप करो–

ॐ सर्वेश्वरेश्वराय सर्व विघ्न विनाशिने मधुसूदनाय स्वाहा।

कल्याण विशेषांक में मैंने पढ़ था कि नृसिंह भगवान के स्मरण करने से महान संकट की निवृत्ति होती है। मैंने जप के द्वारा संकट से छुटकारा पाया है। इसीलिये मैं मन्त्रों में विश्वास रखता हूं।

जब कोई बहुत भयानक आपत्ति से घिरा हो अथवा महान अनिष्ट की आशंका हो तो इस मंत्र का अधिक से अधिक जप करते रहना चाहिये। यहीं नृसिंह मंत्र है।

ॐ उग्र वीर महा विष्णु ज्वलन्तं सर्वतो मुखम्।

नृसिंह भीषणं भद्रं मृत्युं मृत्यं नमाम्यहम्।।

किसी कष्ट से छूटने के लिये इस मंत्र का भी जप लाभप्रद होता है–

ॐ रां रां रां रां रां रां रां रां कष्टं स्वाहा

यह भी सर्व व्याधि के नाश के लिये प्रसिद्ध मन्त्र है–

रोगों की औषधि करते हुए नीचे लिखे मंत्र का जप करते रहना परम सहायक होता है।

ॐ अच्युताम नमः ॐ अनन्ताय नमः ॐ गोविन्दाय नमः।

यह मंत्र भी अद्भुत है।

किसी दुःखी को इन तीनों मन्त्रों का जप करते रहना चाहिये। भाव यही रखना चाहिये कि जो महान अपनी महिमा से कभी विचलित नहीं होता उस अच्युत को नमस्कार है। वह अच्युत परमात्मा अनन्त है, साथ ही वही सब इन्द्रियों को हम में सत्ता चेतना देने वाला है उसे नमस्कार है।

इन तीनों मंत्रों को बैठकर या लेटे–लेटे मन ही मन जपते रहने से सभी प्रकार की आधि–व्याधि में प्राण शक्ति सुलभ होती है। जितना ही मन लगा कर कोई जप करता है उतनी ही शीघ्रता से अनन्त एक रस रहने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का योग सुखद होता है।

पद्मपुराण में इन तीनों मंत्रों के साथ एक जप करने का परिणाम यही लिखा है कि जो एकाग्रचित्त से इन मंत्रों का जप भक्ति

पूर्वक करता है उसे विष, रोग और अग्नि से होने वाली मृत्यु का भय नहीं होता। भगवान शंकर महादेवजी ने इन्हीं मंत्रों का जप करते हुए भयंकर विष को पी लिया था। इन मंत्रों के जप से मैंने रोग दूर होते देखा है।

सर्व क्लेश हर मन्त्र

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणत क्लेश नाशाय गोविन्दाय नमो नमः।।

इस मन्त्र के जप का बहुत महात्व लिखा है यदि यह कठिन प्रतीत होता हो तो केवल श्री कृष्णाय नमः—इसी मन्त्र को जप करते रहने से साधक के जीवन में सभी कुछ अनुकूल होता जाता है।

नीचे लिखे मन्त्र को सिद्ध कर लेने से गाय के रोग दूर किये जा सकते हैं भूत—प्रेत बाधा का निवारण हो सकता है।

स्थाने हृषीकेश तब प्रकीत्र्या जगत्प्रहृध्य त्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध संघाः।

इस मंत्र को तीन हजार जप करो। पुनः जब आवश्यकता हो तब मिट्टी के शुद्ध पात्र या अन्य पात्र में जल लेकर सात बार मंत्र पढ़ कर दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली जल में फिरा दो। उसी जल को रोगी को पिला दो शेष कुछ जल उसके अंगों में छिड़क दो। बाधा दूर न होने तक नित्य करते रहो।

कलिकाल में **हनुमान जी तथा भगवती दुर्गा की** आराधना मन्त्रानुष्ठान से शीघ्र सिद्धि मिलती है। किसी को सिद्धि की अभिलाषा हो तो नीचे लिखे मन्त्र के द्वारा सात दिन में सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

मन्त्र है– **ॐ हं पवन नन्दनाय स्वाहा।**

इस दशाक्षर मन्त्र को नदी तट में शुद्ध स्थान में 6000 नित्य जप करना चाहिये। पूरी विधि किसी मन्त्र ज्ञाता विद्वान ब्राह्मण से समझ कर एकान्त में जप करे या फिर घृत की दीपक जलाकर शून्य घर में ही जप कर सातवें दिन दिन–रात जप करने पर रात के अन्तिम पहर में हनुमान जी किसी भयानक आकार में प्रकट होते हैं, यदि जापक भय से नहीं डरेगा या किसी प्रकार के रूप में मोहित नहीं होगा तो उसके सामने हनुमान जी प्रकट होंगे और लौकिक या पारलौकिक अभिलाषा पूर्ण करेंगे।

हनुमान जी का दूसरा मंत्र है

ॐ ऐ ह्रीं थीं नमो भगवते हनुमते मम कार्येषु ज्वल ज्वल प्रज्वल असाध्यं साधय साधय मां रक्ष रक्ष सर्व दुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा।

इस मंत्र को मंगलवार से प्रारम्भ करके नित्य 100 बार जप करते रहने से कठिन से कठिन न्याययुक्त कार्य सिद्ध हो जाता है।

तीसरा मन्त्र

बुद्धि हीन तनु जानिके सुमिरो पवन कुमार।
बल बुधि विद्या देहु मोहिं, हरहु कलेश विकास।।

इसे नित्य 100 बार या अधिक जप करने से विद्यार्थी की बुद्धि बढ़ती है, विद्या आती है क्लेश विकास दूर होते हैं।

चौथा मन्त्र

पवन तनय बल पवन समाना।
बुधि विवेक विज्ञान निधाना।।

इसे नित्य जप करने से मुकदमा में जीत हो जाती है।

पाँचवाँ मन्त्र

ॐ हं हनुमते रुद्रात्मकाय हूं फट् ।

इस मंत्र को एक लाख जप करते हुए श्री राम जानकी का ध्यान रखने से सब प्रकार की सिद्धि सुलभ होती है शुद्ध स्थान में घृत का दीपक जलाकर जप करना सिद्धि सहायक होता है।

परीक्षा में सफल होने का जप

जिहि पर कृपा करहिं जिय जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।
मोरि सुधारहिं सो सब भांति। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।।

खोई वस्तु लौटाने का जप

गई बहोरि गरीब निवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।।

विघ्न नाश का जप

सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सु कृपा विलोकहिं जेही।।

बुद्धि शुद्धि के लिये जप

ताके युग पद कमल मनावउं। जासु कृपा निर्मल मति पावउं।।

कलंकनाश का जप

राम कृपा अवरेव सुधारी। विबुध धारि भई गुणद गुहारी।।

सुरक्षा के लिये जप

मामभिरक्षय रघुकुल नायक। धृत वर चाप रुधिर कर सायक।।

इन मंत्रों का जप करते हुए हवन करने से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, तन शुद्धि, मन की शुद्धि भी आवश्यक है।

हवन सामग्री– चन्दन का बुरादा, तिल, घृत, चीनी, अगर, तगर, कपूर, चार आना भर केशर नागर मोथा, पंच मेवा, जौ, चावल केशर के अतिरिक्त सब सामग्री अस्सी तोला (लगभग 950 ग्राम) होनी चाहिए।

श्री भगवती दुर्गा जी के अनेक मंत्र प्रसिद्ध हैं किसी शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण से जानकारी प्राप्त करके जप द्वारा सफलता प्राप्त की जा सकती है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि जब भाग्य भोग निश्चित है तब जपादि द्वारा कोई दरिद्र धनवान कैसे हो सकता है? रोगी कैसे निरोग हो सकता है, सन्तानहीन किस नियम से सन्तान प्राप्त कर सकता है? इस प्रकार के प्रश्न अवश्य ही विचारणीय हैं। पाप कर्म अथवा पुण्य कर्म भोग सभी को स्वतः प्राप्त होता है परन्तु कुछ कर्म भोग ऐसे भी हैं जो कर्म से ही कट जाते हैं। कर्म की बेड़ी कर्म की छेनी और कर्म की हथौड़ी से कट जाती है।

जिस शक्ति से पाप कर्म बनता है उसी शक्ति द्वारा पुण्य कर्म भी सम्पन्न होता है। अशुभ अपवित्र पतित दोषी पापी का स्मरण जप चिन्तन भी कर्म है और शुभ पवित्र साधु का सद्गुण सम्पन्न का स्मरण जप चिन्तन भी कर्म है।

जब हम शक्तिसम्पन्न पवित्र कल्याणकारी शक्तियों का अर्थात् देवताओं आह्वान स्मरण करते हैं तब उनकी दया दृष्टि हमारे दुःख, संकट दूर हो सकते हैं।

एक रहस्य की बात समझने योग्य है—वह यही कि हमारे पास यदि धन होता है तो कोई भी कार्य सुगमता से पूर्ण हो जाता है, यदि धन नहीं होता तब उधार लेकर भी कार्य सिद्ध किया जाता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने संचित पुण्यों से अपनी अभिलाषा पूर्ण करता है किन्तु जब पुण्य रूपी पूंजी नहीं होती तब शक्ति सम्पन्न देवताओं की शरण लेकर उनकी दया से अपनी कामना की पूर्ति कर लेता है परन्तु देवताओं का ऋणी हो जाता है इसीलिए मंत्र जप के पश्चात् साधक को हवन दान करना आवश्यक होता है। दान करने से ऋण कटता है, जितना दान पुण्य किया जायेगा उतनी ही शीघ्रता से ऋण कट जायेगा। सफलता प्राप्त करने पर जो जापक साधक सेवा, दान, पुण्य एवं तप नहीं करते वह ऋणी रह जाते हैं और उनकी सफलता कुछ समय पश्चात् शीघ्र ही असफलता में बदल जाती है इसीलिये देवापासक को चाहिये कि अपनी इच्छाओं को कम करते हुए तन द्वारा धन, योग्यता द्वारा दूसरों की सेवा सहायता करता रहे ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, लोभ, क्रूरता कठोरता द्वारा पाप की वृद्धि न होने दे। अधर्म से, पाप से, हिंसा से, अन्त में सब पापों के मूल अज्ञान से सदा सावधान रहे।

प्रायः मन्त्रों के साथ नमः अवश्य ही लगा होता है। भक्ति की साधना में सर्वोपरि बाधा अहंकार के द्वारा होती है। परमात्मा और जीवात्मा के मध्य में यह अहंकार ही एक दीवार है जो योगानुभव नहीं होने देती इसी अहंकार को हटाने के लिये अहंकार के स्थान में

नमस्कार किया जाता है। **नमः नमः करने का अर्थ है—नहीं है कुछ भी मेरा** अर्थात् नमस्कार का सरल भावार्थ सन्त बताते हैं। अहंकार के नाश करने के लिये नमस्कार अमोघ अस्त्र है।

इसीलिये रामय नमः, श्रीकृष्णाय नमः, शिवाय नमः, श्री भगवते वासुदेवाय नमः, नारायणाय नमः, ब्रह्मणे नमः, श्री परमात्मने नमः, श्री दुर्गाये नमः इत्यादि हर मन्त्र में नमः लगा हुआ है।

जिस नाम के अन्त में नमः लगाया जाता है उसका भाव यही रहता है कि 'मैं तुम्हारा हूं' सर्वभाव से तुममे ही समर्पित है, इसी भावार्थ को लेकर जप करना चाहिये।

किसी नाम को प्रेम और विश्वास पूर्वक जपते रहने से या फिर किसी मंत्र को विधिपूर्वक जपने से मन की वृत्ति शान्त हो जाती है तभी साधक को सिद्ध बनाने की शक्ति संचित होती है।

साधक को साधानाभ्यास में नित्य नियमपूर्वक एक निर्धारित समय में ही बैठना अधिक लाभप्रद होता है। सबसे उत्तम समय प्रातः दो बजे या तीन बजे या फिर चार—पाँच बजे अभ्यास के लिये है, जो प्रातः शीघ्र ही अभ्यास में बैठना चाहते हों तो उन्हें रात में नौ बजे सो जाना चाहिये। जिन्हें साधना में शीघ्र ही सिद्धि पाना होता है वे रात्रि के अन्तिम पहर में, मध्यान्ह में सायंकाल और अर्धरात्रि में—चार बार अभ्यास में बैठते हैं साधारण साधक प्रातः और सायंकाल ही बैठते हैं।

नाड़ी शुद्धि अथवा अनुलोम—विलोम प्राणायाम का अभ्यास अब सहज हो जाता है तब उसी के धारणा जोड़ दी जाती है।

नाभि में यह हृदय में अथवा दोनों भौं के भीतर बीस में मन को लगाना ही धारणा है। धारणाभ्यास से शिक्ति केन्द्रित होकर उसी केन्द्र को जाग्रत करती है।

दैवी सम्पत्ति से ज्ञान–विज्ञान कोष विकसित होता है, आसुरी उस दिव्य कोष को आच्छादित करती रहती है।

कोई भी मन्त्र जितनी श्रद्धा से तथा जितने सरल विश्वास से शब्दार्थ का भावार्थ का मनन करते हुए जब किया जाता है, उतना ही अधिक चित्त शान्त होता है। शान्त चित्त द्वारा ही नित्य प्राप्त अखण्ड परमात्मा की सत्ता से सम्बन्ध ज्ञात होता है।

अखण्ड परमात्मा की सत्ता के साथ निकटता, तद्रूपता, तन्मयता की अनुभूति में ही साधक के संकल्प की पूर्ति होनी है। इसीलिये प्रायः मन्त्र जप करने वालों को अपने मनोनीत इष्ट के दर्शन होते हैं, कामनाओं, प्रार्थनाओं की पूर्ति होती है।

एक संत तो प्रत्येक रोग की दवा राम नाम अर्थात् परमात्मा का नाम ही बताते थे किन्तु जब इतनी श्रद्धा अथवा विवेक साथ नहीं हो तब यथोचित प्रयत्न श्रम भी करना चाहिए औषधि तथा प्रकृति तत्वों द्वारा उपचार करना चाहिए। किसी भी प्रकार से पवित्र शक्ति द्वारा ही दुःखों की, रोग के दोषों की निवृत्ति होती है और शक्ति संयम से सुलभ रहती है अभिमान और काम संयम को नष्ट करते रहते हैं।

संयम में ही समस्त दैवी सम्पत्ति स्थिर सशक्त रहती है और असंयम में सारी विपत्तियाँ आती रहती हैं।

असंयम पूर्वक हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा वाणी, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मन, चित्त तथा बुद्धि द्वारा व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ वार्ता, व्यर्थ चिन्ता, व्यर्थ मनन करने से रोग, दुःख, बन्धन, व्याधि–उपाधियों की वृद्धि होती है।

सेवा, तप, व्रत, ईश्वर स्मरण, मन्त्रजप, अनुष्ठान, दान, सम्यक ज्ञान, ध्यान, त्याग, प्रेम के द्वारा शारीरिक, मानसिक रोगों, दोषों, दुःखी बन्धनों की निवृत्ति होती है।

व्यर्थ वचन था व्यर्थ मनन, चिन्तन एवं विचारों के त्याग से मंत्र जप एवं स्मरण चिन्तन ध्यान सुगम हो पाता है किन्तु व्यर्थ का त्याग सुगमता से नहीं हो पाता।

आरम्भ में साधक या तो लालचवश या भयवश ही जप अनुष्ठान का संकल्प करता है।

जितना कुछ पाने का लालच प्रबल रहता है या किसी प्रतिकूलता से छूटने का भय प्रबल रहता है उतना ही मन एकाग्र होता है, एकाग्र होने पर अन्तरात्मा परमात्मा के योग विधान द्वारा परिणाम अनुकूल होता है।

जप योग में जापक को दस नामापराध से बचते रहना चाहिये।

(1) पर निन्दा, (2) आसुरी प्रकृति वाले को नाम की महिमा बताना, (3) विष्णु और शिव में भेद दृष्टि रखना, (4) वेदों पर विश्वास न करना, (5) शास्त्रों पर अविश्वास, (6) गुरु में अविश्वास, (7) नाम

महिमा को सत्य न मानना, (8) नाम के सहारे निषिद्ध कर्म करना, (9) नाम के भरोसे शास्त्रोक्त कर्म न करना, (10) भगवन्नाम के साथ अन्य साधनों की तुलना करना। यही नामापराध हैं।

नाम स्मरण में विश्वास की प्रधानता और जप में विश्वास के साथ मनोयोग की प्रधानता है। जप में विधि का ध्यान रखना, साथ ही शुद्धि और उच्चारण में सावधान रहना आवश्यक है।

मन्त्र में दीक्षा का विधान है नाम जप में ऐसी कोई शर्त नहीं है नाम संकीर्तन या नाम जप जब जैसे चाहें कर सकते हैं।

जप के प्रकार

जप कई प्रकार से किया जाता है जो साधक प्रातः व सायं नियमित जप करते हैं उसे नित्य जप कहते हैं।

जब कोई साधक विशेष तीर्थ में या अमावस्या, एकादशी, पूर्णिमा आदि विशेष पर्व में विशेष जप करते हैं उसे नैमित्तिक जप कहते हैं।

जब साधक किसी कामना की पूर्ति के लिये विशेष शक्तियुक्त देवी देवता का मंत्र जप करता है उसे काम्य जप कहते हैं।

जब साधक मनमाने ढंग से नियम विरुद्ध शुद्धि का ध्यान न रखकर, मन्त्र के देवता का ध्यान न रख कर अश्रद्धापूर्वक केवल संख्या की पूर्ति करके असंयमपूर्वक जप करता है उस जप को निषिद्ध जप कहते हैं।

जो साधक किसी पाप अपराध के नाश के लिये जप करता है उसे प्रायश्चित जप कहते हैं।

जब साधक एक स्थान में शुद्धतापूर्वक दृढ़ आसन लगाकर जप करता है, जप संख्या पूरी किये बिना उठता ही नहीं, उसे अचल जप कहते हैं।

जो साधक चलते–फिरते, बैठे–लेटे किसी प्रकार कहीं भी, किसी दशा में जप करते हैं उसे चल जप कहते हैं। चल जप करने वाले साधक को इतना तो सावधान रहना ही चाहिये कि झूठ न बोले, निन्दा न करे, कठोर वचन न बोले, व्यर्थ बात न करे–जो साधक जप करते हुए वाणी को अशुद्ध नहीं करता उसकी वाणी में शक्ति बढ़ जाती है। जिस प्रकार स्नान करके कोई मनुष्य इसीलिये अशुद्ध वस्तु का स्पर्श नहीं करता क्योंकि शुद्ध होने के पश्चात् पुनः अशुद्धि न आ जाये, इसी प्रकार जप करने वाला साधक जप से पवित्र हुई वाणी को अशुद्ध वाक्यों के प्रयोग से अशुद्ध नहीं होने देगा।

उच्च कोटि के साधक श्वासोच्छ्वास के साथ जप करते हैं, इसे अजपा जप कहते हैं।

ओठ कण्ठ हाले नहीं, जिàा नहीं उचार।
सहजै धुनि लागी रहे, प्रेम सहित आगार।।

श्वास के भीतर जाते समय 'सो' बाहर जाते समय 'हं' की ध्वनि में वृत्ति लग जाये। साधक यही अनुभव करे कि 'सोहं'='वही मैं हूँ' 'हं सो' 'मैं ही वह है'।

जीव और शिव में निरन्तर एकता की, सजातीयता की अनुभूति होते रहना अजपा जप की सिद्धि है। योगी की सम्मति है–

ऐसा जाप जपो मन लाई। सोऽहं सोऽहं अजपा गाई।।
आसन दृढ़ करि धारो ध्यान। निशि दिन सुमिरो ब्रह्मज्ञान।।

इस प्रकार के अजपा जप से स्वतः अनहद नाद जाग्रत हो जाता है, भीतर के सोये हुए कमल खिलने लगते हैं। इसी को षट चक्र की जाग्रति कहते हैं।

किसी की साधना के द्वारा मन की वृत्ति जितनी शान्त होती जायेगी उतनी ही मात्रा में शक्ति केन्द्रित होती जायगी। **जो शक्ति वृत्ति रूप विविध भोग बनती है, वही शक्ति अन्तर में केन्द्रित होकर विविध योग बनती है।**

भक्तियोग का साधक परमात्मा के पूर्ण होने में, अविनाशी होने में आस्था रखता है, परमात्मा के सनातन ज्ञान में श्रद्धा रखता है और उसके विधान से जो कुछ भी घटित होता रहता है उसके मंगलमय होने में विश्वास रखता है।

भक्त आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास और शरणापन्न स्थिति के द्वारा ही सदा निर्भय, निश्चिन्त, शान्त, स्वस्थ रहता है।

भक्त उसे ही अपना सर्वमय मानता है जो सभी का है, जो निरन्तर है, सर्वत्र है, सर्वमय है, नित्य सुलभ है।

भक्त दूसरे के लिये काम करता है, अपने लिये केवल अविनाशी में विश्राम करता है। संकल्परहित होने पर ही विश्राम सुलभ होता है।

भक्त का अपना कोई संकल्प नहीं होता, प्रभु के नाते दूसरों का संकल्प पूरा करना कर्त्तव्य समझता है।

जो कर्त्तव्यविमुख है, परापेक्षी है, किसी से कुछ चाहता है, वह अनन्त में विश्राम नहीं पा सकता, वह तो कर्म में ही व्यस्त रहता है।

जब तक अपने सद्गुण एवं सद्भाव, सद्ज्ञान अथवा सद्विवेक की कमी है और कमी रहते हुए उस कमी का दुःख भरपूर नहीं है, तब तक इस कमी की पूर्ति का दृढ़ संकल्प नहीं होता है, इसीलिए दैवी सम्पत्ति की कमी का दुःख बढ़ाना आवश्यक होता है।

सन्तों से यह भी सुना है कि कृपणता, कठोरता, भेदभाव, संशय आदि दोष जब तक साधक में रहते हैं, तब तक भक्ति सुलभ होती।

बुद्धि में जितना अधिक जड़ वस्तु से मोह, लोभ होता है, उतनी ही जड़ता से साधना का आरम्भ होता है। जड़मूर्ति में खोज करते हुए परमात्मा का प्रेमी चेतन प्राणी को प्रभुमय देखने लगता है और पुनः स्वयं में खोजने लगता है। खोजना बाहर होता है, खोजना वहीं से आरम्भ हो जहाँ स्वयं साधक होता है।

एक संत ने कहा है यदि परमात्मा स्वयं के प्रेम में नहीं सुलभ होता है तब वह मंदिरों, मूर्तियों में नहीं मिलता है। प्रेम के द्वारा

साधक स्वयं मन्दिर बन जाता है और परमात्मा को स्वयं में ही प्रतिष्ठित पाता है। साथ ही स्वयं को प्रभु में ही प्रतिष्ठित देखता है।

संत का यह भी निर्णय है कि जिसकी दृष्टि अथवा मन की वृत्ति कामिनी में, धन में लगी है वह भक्ति की साधना में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता।

कोई संत कहते हैं तुम दोनों के त्याग तथा तप की पूर्णता के लिये चिन्तित न रहो, पूरी शक्ति से प्रभु के नाम का अवलम्बन ले लो, निराश न होकर नाम का आश्रय लिये ही रहो–एक समय ऐसा आयेगा कि जब प्रभु से अभिन्नता का बोध होने लगेगा।

एक साधु गा रहे थे–

मर जायेगा मूरखा, क्यों न भजे भगवान।
झूठी माया जगत की, मत करना अभिमान।।
मत करना अभिमान, सभी ज्ञानी जन कहते।
तज ममता भज राम, वही अविनाशी रहते।।
कहत दीन दरवेश, फेर अवसर कब आवै।
भजा नहीं भगवान, अरे मूरख! मरि जावै।।

भोग, ऐश्वर्य, धन, अधिकार की कामना रहते जीव त्यागी, संन्यासी हो ही नहीं सकता, वह संकल्पों की पूर्ति में ही व्यस्त रहता है। कोई–कोई साधक कामोपभोग से दूर रहते हुए स्त्रियों के प्यार में, मान में आसक्त हो जाता है, परिणाम नहीं देख पाता। सन्त तो

स्त्रियों से वात्सल्य भाव के रसास्वाद को भी मनोविकार कहते है।, उससे अनुचित प्रभाव भी पड़ता है।

जब किसी भी वस्तु को अथवा व्यक्ति को पाकर हर्ष–शोक नहीं होता, जब किसी के प्रति भी आकर्षण नहीं रहता तब भोग वृत्ति समाप्त होती है, तभी कर्मों का क्षय होता है, तत्पश्चात् ही राग, सत्य अनुराग में बदल जाता है।

जिस साधना से अथवा ज्ञान भक्ति से 'मैं' और 'मेरापन' न छूटे, वह साधना वह ज्ञान तथा भक्ति दम्भ से दबी हुई माननी चाहिये।

भक्ति की साधना भी तमोगुण या रजोगुण अथवा सतोगुण की भूमिका से आरम्भ होती है।

सावधान साधक सात्विक, श्रद्धा और विवेकपूर्ण विश्वास का ही आश्रय लेते हैं। इसीलिये आरम्भ से ही श्रद्धा तथा विश्वास को सतोगुणी बनाने के लिये अपना निरीक्षण करना आवश्यक होता है।

जिन साधकों के मन में गुरु बनने की, सम्मान प्रतिष्ठा की तथा धन की कामना रहती है वह बीच में ही अटके–भटके रहते हैं। वह भक्त साधु कहला कर साधना की ओट में भोगी ही बने रहते हैं, परमात्मा के नित्य योगी नहीं हो पाते।

संत ने हमें समझाया है कि जिस साधना के द्वारा परमानन्द, परमशांति, नित्य मुक्ति की अनुभूति होती है, उस साधना को गुरुवाई

के पीछे मान प्रतिष्ठा धन के पीछे लगा देना मूढ़ता का ही परिचय देना है।

अहंकार का ज्ञान न होने तक मान, पूजा, भेद, प्रतिष्ठा गुरुवाई बहुत ही प्रिय लगती है।

अहंकार रहते सत्य तक दृष्टि नहीं पहुंचती और अनन्त सत्य में दृष्टि पहुंचते ही अहंकार नहीं रहेगा। **ज्ञान की खोज स्वयं में करो, ज्ञान में अहंकार की परिधि को देखो।**

भक्तियोग की साधना में लगे हुए साधक को अहंकार का निरीक्षण करते रहना चाहिये और अधिकार के भोग का त्याग करते हुए दूसरों से मिलने वाले मान से सावधान रहकर बचना चाहिये।

अपमान अथवा प्रतिकूलताओं को सहन करना चाहिये। भक्ति ज्ञान विचार–सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिये। समझबूझ कर अधिक भोजन मिलने पर भी स्वल्प भोजन करना चाहिये।

व्यर्थ समय कभी नष्ट नहीं करना चाहिये। व्यर्थ वार्ता का त्याग करके सत् कथा तथा कीर्तन करना चाहिये। व्यर्थ चिन्तन का त्याग करके परमेश्वर के नाम का स्मरण तथा उनकी लीलाओं का उनके धामों का चिन्तन करते रहना चाहिये।

व्यर्थ दर्शन को छोड़कर श्रद्धेय गुरुजनों से प्रीति, संतों के प्रति श्रद्धा रखते हुए उनकी सेवा में तत्पर रहना चाहिये।

व्यर्थ श्रवण को छोड़कर सत्कथा श्रवण करना चाहिये। व्यर्थ भ्रमण का त्यागकर कर्त्तव्यपालन एवं अवकाश मिलते ही अपने अध्ययन और ध्यान में शांत होना चाहिये।

रस की निस्सारिता

देखो मिलता क्या है, संसार में सुख लेते–लेते।
भ्रमित हो माया के, विस्तार में सुख लेते–लेत।।
शक्ति जो मिलती है, वह धीरे–धीरे घटती जाती।
प्रीति जिससे होती वह, वस्तु नित्य ही हटती जाती।
तृप्ति होती न कहीं भी, प्यार में सुख लेते–लेते।।
मिला जो कुछ भी तुमको, उसके ही मोही बन बैठे।
अधिक वैभव पद पाकर, भोगी हरिद्रोही बन बैठे।
स्वयं को भूल गये, अधिकार में सुख लेते–लेते।।
दोषों का त्याग करके, हो सकते सब कुछ के दानी।
देह के अभिमानी, तुम हो सकते आत्म–ज्ञानी।
समय निकला जाता, व्यवहार में सुख लेते–लेते।।
बड़ा पुरुषार्थ यही है, जीवन का उद्धार करना।
योग को लक्ष्य बना, भोगों की सीमा पार करना।
'पथिक' अब मत रुकना, अधिकार में सुख लेते–लेते।।

****

बुद्धियोग

जब तक जीव दु:खी है, अशांत है, बन्धन में है, तब तक जो करना चाहिये वह नहीं कर रहा, जो मानन चाहिये वह नहीं मान रहा और जो कुछ जानना चाहिये उसे नहीं जान सका, इसीलिये ऐसे मनुष्यों को भूल में, भ्रांति में अज्ञान में आबद्ध कहा जाता है।

भूल भ्रांति अज्ञान की निवृत्ति के लिये सर्वोत्तम साधन बुद्धियोग है।

कोई साधक सन्त सद्‌गुरु की कितनी ही सेवा करता रहे अथवा दान, पुण्य, तप करता रहे, इसके अतिरिक्त जपयोग, क्रियायोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, तपयोग, हठयोग आदि की साधना में तत्पर रहे, फिर भी इन सभी योगों के द्वारा यदि बुद्धियोग प्राप्त न हो तब तो समस्त आंशिक सिद्धियाँ अपूर्ण ही होगी।

भगवान ने स्वयं अपने भक्त अर्जुन को बुद्धियोगी होने की प्रेरणा दी है। भगवान ने आश्वासन भी दिया है कि 'जो भक्त मेरा प्रीतिपूर्वक भजन करता है उसे मैं बुद्धियोग देता हूँ।

यह भी श्रुति वाक्य है– सन्त आचार्य कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु के दु:ख का अन्त करोड़ों जन्म तक नहीं होता। परमात्मा के साथ एकता की अनुभूति बुद्धियोग द्वारा होती है और एकता की जानकारी शास्त्र ज्ञान द्वारा होती है।

किसी वस्तु तथा व्यक्ति के प्रति लोभ, मोह की प्रबलता एवं सेखोपभोग की तृष्णा और हानि का, अपमान का, अपकीर्ति का, वियोग का, मृत्यु का भय बुद्धियोगी को नहीं होता। इसीलिये ब्रह्मवेत्ता शांत वीतराग संत महात्मा के संग से श्रद्धापूर्वक विचार शक्ति जाग्रत करना साधक का प्रथम कर्त्तव्य है जिससे कि सम्यक विवेक हो।

श्रद्धा के साथ तत्पर होकर जो सन्त महात्मा आचार्य की सेवा करता है उसकी बुद्धि में विचार शक्ति अवश्य ही जाग्रत होती है। विचार की प्रधानता में ही मन तथा इन्द्रियों में संयम सहज हो जाता है, तत्पश्चात् भगवद् भजन करते हुए बुद्धियोग सुलभ होता है, बुद्धियोगी यथार्थ दर्शन करता है। दर्शन द्वारा ही संसार से मुक्ति और परमात्मा में भक्ति सुलभ होता है, बुद्धियोगी यथार्थ दर्शन करता है। दर्शन द्वारा ही संसार से मुक्ति और परमात्मा में भक्ति सुलभ होती है।

एक प्रवचन में मैंने सुना था कि जो सब खोज छोड़ देते हैं, जहाँ के तहाँ स्थिर हो जाते हैं वही आत्मा परमात्मा को वहीं खोज लेते हैं जहाँ स्वयं होते हैं। आत्मा परमात्मा को वही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य होते हैं।

जहाँ चेतना का कभी अभाव होता ही नहीं, वहीं परमात्मा का अनुभव होता है। अनुभूति के लिये बुद्धि स्थिर होनी चाहिए।

यथार्थ निर्णय तो यही मिला कि साधक बुद्धियोगी होकर वासना, कामना, तृष्णा, विचार तथा धारणा आदि सब खोता जाता है परन्तु

पाता कुछ नहीं क्योंकि परमात्मा तो प्रथम से ही विद्यमान था उसे पाने का प्रश्न ही नहीं है, जबकि वह खोया ही नहीं।

जिस प्रकार बादलों के हटते ही सूर्य के दर्शन होते हैं, सूर्य कहीं से आता नहीं हमारी ही दृष्टि के सामने बादल आ जाता है, इसी प्रकार विचारों के बादल हटते ही सत्यरूपी सूर्य के दर्शन होते हैं। विचारों की भीड़ में हम अपने को खोये रहते हैं।

हम स्वयं से अथवा स्वयं के सत्य से भले ही अपरिचित बने रहें, हमसे स्वयं एवं सत्य कभी कहीं दूर नहीं होता।

बुद्धियोग द्वारा अहंकार की सीमाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। जब कामनाओं का भोग नहीं होता, तब श्रद्धालु साधक बुद्धि योगी हो सकता है।

सुखोपभोग की तृष्णा, सम्पत्ति का लोभ, प्रतिकूलताओं का भय, इन्द्रियों का विषयाभ्यास बुद्धियोग में सदा बाधक बना रहता है।

जिसे बुद्धियोगी होना है उसे भजन करने का व्रत लेना चाहिये। जिसे भजन करना हो उसे बिना देखे परमात्मा को प्रीतिपूर्वक अपना सर्वस्व मानना चाहिये और परमात्मा का ही सब कुछ जान कर सेवा करना चाहिये। सेवा उसी की करना चाहिये जो सामने हो।

जिसे सेवा करना हो उसे नित्य नियम से और उसके अतिरिक्त भी अनियमित साधना करनी चाहिये क्योंकि साधना से सेवा के योग्य शक्ति सुलभ होती है।

साधना की पूर्णता के लिये क्रियाओं में, भावनाओं में, विचारों में सन्तुलन एवं संयम रखना चाहिये। संयम की पूर्णता के लिये जितना जब अवकाश मिले तभी शान्त होकर बैठकर या लेटकर जो कुछ शरीर के भीतर प्राणों की गति को तथा मन के संकल्पों को एवं विचारों को साक्षी बनाकर देखना चाहिये।

सन्तों, आचार्यों का हम साधकों के लिये आदेश है कि बुद्धि दृष्टि से देह को मृत्यु से घिरी हुई देखो और नित्य जीवन के अविनाशित्व पर विश्वास करो। जो अविनाशी है, नित्य चेतन है उसको जानकर विश्वास करना है और जो परिवर्तनयुक्त विनाशी है उस पर सावधान रहकर विचार करना है।

इसे भी याद रक्खो कि जब तक तुम मनोमय कोष के अभिमानी हो उसके संग दोष से ही हर्ष, शोक आदि रूप में द्वन्द्वों का प्रभाव पड़ता है। मन के ही साथ मिलकर कभी तुम हँसते हो कभी प्रतिकूलताओं से भयातुर शोक सन्तप्त होते हो, इसी प्रकार बुद्धि के साथ मिलकर तुम हर्ष, शोक बन्धन दुःखों के कारण को देखते हो।

चाहे तुम मन के साथ मिलकर हँसते–रोते रहो, सुख–दुःख के भोगों में ही जीवन व्यतीत करते रहो चाहे बुद्धियोगी होकर सम्यक दर्शी बनो और साक्षी द्रष्टा होकर संगातीत स्वरूप की अनुभूति में नित्य शान्ति का आनन्द का आस्वादन करो।

बुद्धियोग कं द्वारा हमें समझाया गया है कि योग की सिद्धि कुछ करने या पकड़ने से नहीं होती वरन् जो कुछ करते हैं या पकड़ते हैं

उसे सहज भाव से छोड़ते ही योग दीखने लगता है। इसी को गीता में **'नित्य युक्तस्य योगिनः'**। वह नित्य मिला हुआ योगी ही है, उसके लिये भगवान सुलभ हैं दुर्लभ नहीं है।

नित्य युक्त योगी वही है जो भगवान से अपने को भरा रहता है उस मनुष्य का मूल्य कुछ नहीं रह जाता क्योंकि वह संसार का मूल्य बन चुका है और जो संसार से अपने हृदय को जितना खाली कर चुका है उसका मूल्य उतना ही अधिक है।

जो अपनी देह से मोह करता है वही दूसरी देहों से भी मोह करता है, जो देह में अटका है वही मूढ़ है, उसकी दृष्टि अंतर सत्य तक नहीं पहुँचती, देही परतन्त्र है जिसकी दृष्टि में 'स्वयं' का मूल्य नहीं विदित है, वही पर का मूल्य बढ़ाते हुए पराधीन है।

किसी भी प्रकार की योग साधना में राग महान् बाधक है। किसी भी प्रकार के सुख के प्रति आसक्ति को राग कहते हैं। सुखद वस्तु की इच्छा रागवश ही होती है। रागासक्त मन में ही काम, क्रोध, लोभाादि दोष रहा करते हैं।

जब पूर्ण वैराग्य होता है तब काम, क्रोध, लोभादि दोष नहीं रह जाते, संसार के किसी भोगजनित सुख की कामना नहीं उठती।

प्रतिकूलता जनित दुःख आने पर वैराग्यवान साधक को चिन्ता शोक–विलाप नहीं रहता।

शास्त्र एवं गुरु से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका अभिमानवश प्रदर्शन का संकल्प नहीं उठता। श्रद्धा, सरलता, सहिष्णुता, नम्रता, प्रसन्नता, निर्ममता, स्थिरता उसका सहज स्वभाव बन जाता है।

वैराग्यवान साधक में मनोराज्य की निवृत्ति हो जाती है।

जो साधक रागरहित है, भयरहित है, जिसे क्रोध नहीं आता, जिसमें तृष्णा नहीं रह गई है, जिसे शुभाशुभ के संयोग से हर्ष–शोक नहीं होता, जिसकी इन्द्रियों विषयों में चंचल नहीं होती उसी की बुद्धि स्थिर होती है, वही बुद्धियोगी होता है।

अनेक पुण्यवान मनुष्य सुसंग के प्रभाव से अथवा पूर्व जन्म के सुसंस्कारवश शुभ कर्म करते हैं, दान करते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं, देवताओं की आराधना पूजा धर्म ग्रंथों का पाठ करते हैं, साधु सन्त गुरु में श्रद्धा भी रखते हैं, सेवा सत्कार भी करते हैं, परन्तु जब तक बुद्धि सात्विक–शुद्ध विचारयुक्त विवेकी नहीं होती तब तक भोग में ऐश्वर्य से धन–मान में ही आसक्त रहने के कारण साधु–संत–गुरु से यथार्थ लाभ नहीं उठा पाते। शरीर इन्द्रियों मन के संयोगी और भोगी लाखों मनुष्य हैं परन्तु बुद्धियोगी कोई विरले ही एक–दो मिलते हैं।

भगवान का तो यही निर्णय है कि जब तक भोगेश्वर्य में मनुष्य आसक्त रहता है, जब तक कभी कुछ देखकर, कभी कुछ सुनकर कभी किसी को मिलकर मोहित होता रहता है तब तक उसकी बुद्धि में जागृति नहीं आती, वह आत्मा–अनात्मा, सत्य–असत्य, धर्म–अधर्म के निरूपण को समझने योग्य स्थिति में नहीं होता। अर्जुन जैसे

महारथी पुरुष, जो साक्षात् भगवान कृष्ण के दर्शन कर रहा था उससे भगवान कहते हैं कि 'अर्जुन! तुम केवल कर्म का ही आश्रय न लेकर बुद्धियोग का आश्रय लो'।

अज्ञानवश जिस प्रीति से जड़ जगत् से संयोग जोड़ा जाता है, उसी प्रीति से विवेकपूर्वक परमात्मा का योगानुभव किया जाता है। जिस ज्ञान से 'पर' को पकड़ा जाता है उसी ज्ञान से 'स्वयं' को जाना जाता है। जिस शक्ति समय द्वारा मनुष्य भोगार्थ सिद्ध करता है उसी के द्वारा परमार्थ सिद्ध होता है।

भोगार्थी तो यही चाहता है कि संसार की सारी सम्पत्ति, सारी सुन्दरता मेरे ही काम आ जाये, संसार के ऐश्वर्य, वैभव, भोग पर मेरा ही अधिकार हो जाये। भोगी की बुभुक्षा कुछ भी पाकर शांत नहीं होती। अहंकार ही मन का संगी बन कर भोगी बनता है। अहंकार ही बुद्धियोगी होकर परिणाम को देखता है। यह अहंकार ही अपने को जानकर सत्य के समर्पित होकर परमार्थी होता है।

परमार्थी साधक भोगार्थी के विपरीत यही चाहता है कि मैं संसार के काम आ जाऊँ, इसीलिये वह अपना सब कुछ तन, मन, धन सेवा में ही सार्थक मानता है, उसे अपने लिये संसार की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, केवल प्रभु की ही एकमात्र आवश्यकता रह जाती है।

संत सावधान करते हैं कि जो कुछ बाहर मिलेगा वह अवश्य ही छीन लिया जायेगा। अतः भीतर लौटो और ठहर कर देखो? वहाँ वही

विद्यमान है जिसे कभी कहीं छूटना ही नहीं है और उसमें कोई कमी नहीं है।

हम लोग इतने असावधान हैं कि यह भी नहीं देख पाते कि बाहर जो कुछ समय खो जाने पर यदि कुछ मिलेगा भी तो अपने किस काम आयेगा? उसका भोक्ता दूसरा ही कोई बनेगा या फिर उसके भोग के लिये दूसरा जन्म वहीं बिताना पड़ेगा। कुछ भी परिणाम हो, पर भोगी अहंकारी को उसकी चिन्ता नहीं रहती, उसे तो कुछ पाने की ही तृष्णा रहती है। दुःख भोग से ही अहंकारी सावधान होता है, किन्तु विवेकी बुद्धियोगी दूर से परिणाम देखकर ही बाहर विपत्ति के पथ में नहीं जाता, वह तो भीतर की सम्पत्ति को प्राप्त करता है।

मैंने पढ़ा है कि, 'स्व' के बाहर विपत्ति है, स्व के भीतर अपार सम्पत्ति है। असंयमी विपत्ति देखता है, संयमी सम्पत्ति पाता है।

मानव का जब अन्तःपुर पूर्ण रूप से शून्य होता है तब आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा की चिन्मयता का बोध होता है। जहाँ मान की, भोग की, धन की अधिकार की कामना है वहाँ सत्य का ज्ञान प्रकट नहीं होता।

ज्ञान की प्राप्ति के लिए विनम्रता, श्रद्धा तथा मस्तिष्क का शांत होना परम आवश्यक है, किन्तु विनम्रता तथा श्रद्धा विवेकपूर्वक होनी चाहिये, विश्वासपूर्वक श्रद्धा से अन्धकार में कुछ पकड़ लेने के समान है और ज्ञानपूर्वक श्रद्धा से पकड़े हुए को देखने के समान है।

जिनकी बुद्धि कुण्ठित अथवा पंगु होती है वही विश्वास के सहारे सुन–सुन करके पकड़ते रहते हैं; जो बुद्धियोगी होते हैं वही देख पाते हैं।

मन के संयोग से सुख भोगा जाता है और बुद्धियोग द्वारा सुखोपयोग के परिणाम को देखा जाता है। बुद्धियोगी सुकृत दुष्कृत दोनों के बंधन से छूट जाता है, यह भगवान का निर्णय है।

दृष्टि जब अन्तर्मुखी न रहकर बाहर होती है तभी अभाव की प्रतीति होती है। जब अभाव नहीं रहता तभी आनन्द है।

यह संत का निर्णय है कि सम्राट और भिखारी को अभाव का दुःख एक समान है, परन्तु बुद्धियोगी ही समझ पाता है।

बुद्धियोग में तृष्णा बहुत ही बाधक है। प्रारम्भिक जीवन में विविध वस्तुओं की तृष्णा होती है। अधिक से अधिक संग्रह करने पर भी संतोष नहीं होता। संग्रह की तृष्णा कम हुई तब विविध सुखोपभोग की तृष्णा, धन की तृष्णा, पदाधिकार की तृष्णा बुद्धि को शान्त नहीं होने देती।

किसी सुसंग, सुसंस्कार, सद्विचार के द्वारा भोगमय जीवन से वैराग्य हो जाता है तब साधु संन्यासी बन जाने पर शिष्य बनाने की तृष्णा, कभी मान प्रतिष्ठा की तृष्णा, कभी कुटी आश्रम की तृष्णा बुद्धि को स्थिर नहीं होने देती। संसार में किसी प्रकार की अनुकूलता का भोग जितना अधिक किया जाता है उसकी तृष्णा बढ़ती ही रहती है,

अनुकूलता के रागवश ही सदा प्रतिकूलता का भय बना ही रहता है, जो कुछ अपने प्रतिकूल होता है उस पर क्रोध आता ही रहता है।

यह संत का निर्णय है कि जब तक तृष्णा है, जब तक प्रतिकूलता के प्रति राग है, प्रतिकूलता का भय है और क्रोध आता रहता है तब तक बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। साधक जब अपने 'स्व' को जान–पहिचान लेता है तभी तृष्णा, भय, लोभादि का त्याग सम्भव हो जाता है।

ज्ञान प्रकाश में बुद्धि, दृष्टि खुलने पर जो कुछ बाह्य दृष्टि से सुन्दर सुखद सत्य प्रतीत होता था वही असुन्दर परिणाम में दुखद और क्षण–क्षण में बदलते रहने वाला दिखाई देता है।

एक श्रद्धालु नित्य सत् चर्चा सुनने जाते थे। सुनते–सुनते विवेक जाग्रत हो रहा था। जहाँ आसक्ति थी वहीं विरक्ति हो रही थी। मोह, प्रेम में परिणत हो रहा था। स्वार्थ सेवा में बदल रहा था। लोभ के स्थान में उदारता आ रही थी। अहंकार की कठोरता, विनम्रता में पिघलती जाती थी। जिस ज्ञान में देह की जड़ता भरी थी उसमें केवल 'स्व' की चेतना प्रकाशित दीखती थी। जहाँ 'अहं' की सीमित सत्ता का मान था वहीं पर प्रभु की महान महत्ता का ध्यान आ रहा था।

एक दिन सूना घर देखकर चोर घुस गए। भक्त कथा श्रवण में तल्लीन था। चोरों ने स्वर्ण के आभूषणों की तिजोरी तोड़ने की तैयारी कर ली, किसी प्रकार स्वामी के सेवक को पता लग गया। वह

सत्कथा स्थल पर स्वामी को सूचनार्थ गया, उसके पीछे–पीछे चोरों का एक साथी भी लग गया था। स्वामी ने स्वर्ण चुराये जाने की सूचना पाकर सेवक को ज्ञानानन्द की मस्ती में यही उत्तर दिया कि मुझे अपनी अंतरात्मा में वह सम्पत्ति मिल रही है जिसके समक्ष बाह्य सम्पत्ति अति तुच्छ है। संसार की अन्य सम्पत्तियों की अपेक्षा धन (स्वर्ण) तो सबसे अधिक तुच्छ वस्तु है, भीतर की दृष्टि खुलने पर वाह्य स्वर्ण के लोभी देखेंगे कि बाहर का स्वर्ण नकली है, स्वयं में जो स्वर्ण है वही असली है, वही पूर्ण आनन्दमय है, उसे पा जाने पर अभावों का ही अभाव हो जाता है। इन उद्गारों को चोरों का सरदार सुन रहा था। उसी क्षण वह सावधान होकर अन्तस् की दृष्टि से देखता है तो उसे भी वह चोरी से मिलने वाली सम्पत्ति तुच्छ ही प्रतीत होने लगी। दृष्टि खुल जाये तो सत्य दर्शन में देर नहीं लगा करती। कुसंग के प्रभाव से आँखे बन्द होते देर नहीं लगती और सत्संग के प्रभाव से आँखे खुलते भी देर नहीं लगती। चोरों के सरदार को वहीं से जो स्वर्ण सत् दीखता था वह मिट्टी की जाति का दीखने लगा। उसे वैराग्य हो गया वह जाग्रत होकर सत् का नित्य संगी बनकर नित्य तृप्ति का अनुभव करने लगा।

हमें यह भी बताया गया है कि तुम किसी गुण को अपने में देखकर संतुष्ट अथवा गर्वित न हो जाओ क्योंकि गुण के होते हुए भी दोष बने रहेंगे।

किसी गुण के द्वारा दोषों का नाश समझना भूल है। कहीं दया करते हुए भी किसी के प्रति कठोरता बनी रहती है। क्षमा करते हुए भी किसी के प्रति क्रोध आता रहता है। इसी प्रकार दान करते हुए भी कहीं लोभ प्रबल रहता है। कहीं नम्रता रहती है तो कहीं अभिमान प्रबल रहता है। परमार्थ चर्चा से प्रीति होते हुए भी प्रपंचासक्ति दूर नहीं होती। राम भजन भी चलता रहता है और कामोपभोग भी होता रहता है।

जब तक दोषों की निवृत्ति नहीं होती तब तक पूर्ण रूप से गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती।

बुद्धि, दृष्टि जब ज्ञान प्रकाश में नहीं काम करती तभी मूढ़जन वस्तु की समृद्धि में आनन्द मानते हैं, वही दरिद्र और दोषी बन जाते हैं, ज्ञान द्वारा जितना ही अहंकार में दोष दीखते हैं उतनी ही अधिक विनम्रता बढ़ती जाती है।

अदूरदर्शी जितना अधिक दरिद्र होता है उतना ही सम्पत्ति एकत्रित करता है और महान् दैवी सम्पत्ति से भरपूर जीवन को नहीं समझ पाता है।

एक संत कह रहे थे कि आनन्दानुभूति के लिये मन का स्वस्थ होना अनिवार्य है और सम्यक ज्ञान में दर्शन के लिये बुद्धि का शुद्ध रहना परमावश्यक है।

जिसका 'मैं' देह के साथ मिला हुआ है वह चैतन्यस्वरूप आत्मा से विमुख है। जो आत्मा को नहीं जानता वह परमात्मा को ऊपर ही ऊपर मानता भले ही रहे, पर जानता नहीं है।

हमें बताया गया है कि मिट्टी से मिले हुए स्वर्ण को तपा कर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार अविद्याग्रसित जीवात्मा को योगाग्नि द्वारा तपा कर शुद्ध किया जाता है। बुद्धि के भीतर जो व्यापक है वही परमात्मा ब्रह्म है, उसी को योग द्वारा जाना जाता है।

मन के द्वारा दुःख–सुख का भोग होता है, बुद्धियोग द्वारा सुख–दुःख का दूर से ही तटस्थ रहकर दर्शन होता है। मन के द्वारा जिससे सम्बन्ध होता है वही मन में भर जाता है और बुद्धि द्वारा साक्षी होकर देखा जाता है।

मन के द्वारा सुख–दुःख को भोगते हुए लक्ष्य की विस्मृति होती है। बुद्धियोग द्वारा सुख–दुःख की सीमा को देखते हुए लक्ष्य की स्मृति रहती है। मन द्वारा सुख–दुःख भोगी अविवेकी होता है और बुद्धियोगी सुख–दुःख का द्रष्टा, विवेकी होता है।

मन के द्वारा सुख का भोगी दोषी बना रहता है, किन्तु बुद्धियोगी सुख के परिणाम में बढ़ने वाले दोषों को देखकर सुखासक्ति का त्याग कर देता है। एक संत का निर्णय है कि दुःख के भोगी में त्याग का बल नहीं रहता, किन्तु जो बुद्धियोगी दूर से ही दुःख को देख लेता है वह त्याग के लिये पर्याप्त बलवान होता है।

मन के द्वारा सुख का भोगी दोषी बना रहता है, किन्तु बुद्धियोगी सुख के परिणाम में बढ़ने वाले दोषो को देखकर सुखासक्ति का त्याग कर देता है। एक संत का निर्णय है कि दुःख को देख लेता है वह त्याग के लिये पर्याप्त बलवान होता है।

मन द्वारा दुःख के भोगी में पुनः सुख पाने की चाह प्रबल रहती है, किन्तु बुद्धियोगी सुख में ही दुःख का दर्शन करते हुए सुखोपभोग से विरक्त रहता है।

मन द्वारा दुःख भोग से जड़ता लदी रहती है, किन्तु बुद्धियोगी में दुःख को दूर से ही देखते रहने से चेतनता जाग्रत रहती है।

मन का संयोगी दुःख का भोग करता है। बुद्धियोगी दुःख के कारण को देख लेता है। मन द्वारा दुःख का भोगी दूसरों को भी दुःख देता है, किन्तु बुद्धियोगी दुःख का दर्शन करते हुए दूसरे दुःखी जनों के प्रति सहानुभूति रखता है, दया करता है।

दुःख का भोगी विनाश को देखता है, किन्तु दुःख का भोगी भयातुर रहना है शक्ति का, समय का, सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है। बुद्धियोगी सांसारिक वस्तुओं व्यक्तियों के संयोगजनित सुख को दुःखद जानकर सब ओर से निराश होकर विश्राम को प्राप्त होता है।

मनुष्य जो कुछ देखता है और देखे हुए के प्रति जैसा सुनता है, मन से वैसा ही मान लेता है। मान कर ही वह मोही, लोभी, अभिमानी बनता है। जो कुछ मन से माना जाता है बुद्धि द्वारा उसी के विषय में जाना जाता है।

अज्ञानवश ही सत्य परमात्मा के साथ निरन्तर रहते हुए भी वस्तु तथा व्यक्ति के प्रति मोहासक्ति रहने के कारण भिन्नता अर्थात् दूरी प्रतीत होती है। जब तक बुद्धियोग द्वारा आनन्दस्वरूप का ज्ञान न होगा तब तक सुखोपभोग की रुचि का पूर्णतया त्याग न होगा और तब कहीं न कहीं आसक्ति बनी ही रहेगी। आसक्ति रहने तक भय नहीं मिटता। भय रहते संघर्ष और हिंसा समाप्त नहीं होती। विवेकपूर्वक जो नहीं करना चाहिए उसके त्याग से जो करना चाहिए उसके लिए शक्ति संचित हो जाती है। **संत प्रवचन से हमें यह ज्ञान हो सका कि न करने योग्य है ममता, अहंता, चिन्ता, हिंसा, दुराचार। करने योग्य है मिले हुए बल का सदुपयोग, सदाचार, दोषों का त्याग, सत्य से अर्थात् परमात्मा से प्रेम।** बुद्धियोग द्वारा जाने योग्य है–अपना संग रहित स्वरूप, अपना सभी के प्रति कर्त्तव्य तथा जगत एवं देह का परिवर्तन, सुखोपभोग का परिणाम और नित्य–अनित्य सम्बन्ध।

मानने योग्य है केवल परमेश्वर और उसकी अहैतुकी कृपा तथा शास्त्र एवं गुरु की कल्याणकारी आज्ञा। आचार्य ने हमें यह भी बताया है कि संसार में मिली हुई देह को, सम्पत्ति को, योग्यता को, शक्ति को, सामर्थ्य को, तथा सम्बन्धि व्यक्तियों को अपना न जानें सब कुछ को परमेश्वर के प्राकृतिक विधान से मिला हुआ मानो और जिससे सब कुछ मिला हो उसे अपना मानो।

जो स्वतः मिला है उसका विवेकपूर्वक देसरों की सेवा सहायता में सदुपयोग करो। साथ ही उस सेवा सहायता का फल न चाहो। तभी बंधन से मुक्ति होगी, अन्तःकरण की शुद्धि होगी।

जो विनाशी है, जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे ममता छोड़ दो और उसका दुरुपयोग न करके सदुपयोग करो।

ममता रहित होने पर लोभ, मोह नहीं रहता। कुछ भी अपना न जानकर सब कुछ मिला हुआ मानने से अभिमान की निवृत्ति होती है।

बुद्धियोगपूर्वक परिणाम को देखते हुए यदि तुम धन को नहीं किन्तु लोभ छोड़ दो। हानि का दुःख न होगा। मोह का त्याग कर सको तो वियोग का दुःख मिट जायेगा। अभिमानरहित अपने को बना लो तो अपमान का दुःख न देखना होगा। यदि अप्राप्त की इच्छा का त्याग कर सको तो अभाव का दुःख समाप्त हो जायगा।

यदि तुम भगवान को मानते हो तो भगवद् भजन तथा सुमिरन के लिए भगवान में अविचल श्रद्धा, अडिग विश्वास, पूर्ण निर्भरता परमावश्यक है। यह तभी सम्भव है जब संसार से आशा न रहे और सम्बन्ध न रहे।

मन से आशा और सम्बन्ध का त्याग कर देने पर मिले हुए का सेवा में सदुपयोग हो पाता है।

परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लेने पर फिर उनकी कहीं विस्मृति नहीं होती। नित्य स्मृति जाग्रत रहने पर ही परिणाम का योग सुलभ रहता है।

प्रीति राम सो नीति पथ, चलिए राग रस जीति।
तुलसी सन्तन के मते, यहै भगति की रीति।।

मन से यही सोचो कि भगवान ही अपने हैं। मन में यही निश्चय कर लो कि मुझे और कुछ नहीं करना चाहिए। मन में यही धारणा कर लो कि संसार में कोई वस्तु अपनी नहीं है। ऐसा करने से भगवद्भक्ति सुलभ होगी। संत ने युक्ति बताई——भगवान को अपना मानने से मन स्वयं भगवान में लग जायगा। कुछ न चाहने से शक्ति साथ होगी, किसी को अपना न मानने से मुक्ति मिल जायगी।

सब चाहों (इच्छाओं) को छोड़े बिना जीवन में मुक्ति, भक्ति नहीं मिलती। चाहों का त्याग करने पर शरीर दूसरों के काम आ जाता है। हृदय प्रियतम प्रभु के प्रेम से भर जाता है, अहं अभिमान शून्य हो जाता है। सब चाहों का त्याग तभी हो पाता है जब विज्ञानमय कोष में विवेक बल सहायक होता है।

सुख के लालच से दुःख के भय से नयी—नयी कामनायें बढ़ती रहती हैं इसीलिये सुखोपभोग का लालच छोड़ो और दुःख का भय त्याग दो। मनोमय कोष में सुखोपभोग की भी भूख रहती है।

यदि तुम किसी से कुछ भी न चाहो तो संसार में सबसे बड़े आदमी हो सकते हो। कुछ न चाहने से संसार का सम्बन्ध छूट जाता

है और परमेश्वर का नित्य योग हो जाता है। एक सन्त कह रहे थे कि मन को अपना मानने से मन शुद्ध नहीं होता। इसलिए मन अपने प्रभु को दे दो, प्रभु के होकर रहो, प्रभु से कुछ न चाहो, यही प्रेमयोग की साधना है।

कुछ भी अपना न मानो, किसी से आशा न करो, किसी का अनादर न करो, किसी का बुरा न चाहो, यही संसार में रहते हुए संसार के बन्धन से मुक्ति होने की युक्ति है।

परमार्थ सिद्धि के लिये, निरन्तर प्रसन्न रहने के लिये, दूसरों की सेवा के अवसर ढूँढते रहो, दूसरों को आदर दो, मान दो, सब से प्रेम करो।

यह भी ध्यान रक्खो कि जो कुछ भला या बुरा दूसरे के साथ किया जाता है वह कई गुना बढ़कर अपने प्रति हो जाता है।

आचार्य ने हमें समझाया है कि बहुत सम्पत्ति होने पर नियमों का पालन करना, शक्ति होते हुए अपमान सहना, युवावस्था में व्रतों का निभाना, निर्धन होते हुए भी दान करना, शुद्ध चैतन्य का ध्यान रखना–ये पाँचों बातें थोड़ी होने पर भी लाभकारी हैं और दुर्लभ हैं।

बुद्धि का पूर्ण शुद्ध होना, तीव्र वैराग्य तथा तत्वज्ञान होना, सात्विक एवं राग का त्याग करना–ये भी बहुत दुर्लभ है।

जिस प्रकार दीपक में ज्योति जलती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में 'मैं' रूपी ज्योति जल रही है। उसी के पीछे अभेदपन से अहंभाव

के बिना जो प्रकाशवान है वही परब्रह्म वस्तु तत्व है। वह ब्रह्म आत्मस्वरूप ही है जो निरन्तर हृदय में विद्यमान है। मन, बुद्धि को उस आत्मस्वरूप के निकट रखना, स्थिर करना उपासना है, योग है, ध्यान है।

सूक्ष्म और निश्चल मन, बुद्धि के द्वारा मुक्ति के आनन्द का अनुभव होता है। दीर्घकाल के ध्यान से मन तथा बुद्धि से सूक्ष्मता आती है। हृदय और ब्रह्मरंध्र ध्यान के योग्य श्रेष्ठ स्थान है। अपने को किसी में रखकर 'मैं' और अपने में कुछ रखकर 'मेरापन' साकारित होता है। आत्मा ही वस्तुतः सत्य है, अन्तरस्वरूप है, वही नाम रूप का आधार है और विश्वव्यापक परमात्मा रूप से हमारी साधना का लक्ष्य है। इस परम लक्ष्य को सर्वत्यागी ही प्राप्त करता है। रागी रहने तक संसार के बन्धन को मुक्त नहीं होता है।

संकल्प ही बन्धन है। असत् का संकल्प करते ही उससे मानसिक सम्बन्ध हो जाता है। संकल्परहित होने पर सत्य से अथवा नित्य तत्व से एकता और अनित्य से, असत्य से भिन्नता अपने आप हो जाती है।

सन्त कहते हैं कि–अपने लिये अपने से भिन्न का आश्रय न लो। अपने स्वरूप का बोध अभ्यास से नहीं वरन् सर्व त्याग से होता है। किसी का त्याग करके उस स्थान को मत भरो तभी 'स्व' एवं सत्य का अनुभव होगा। संसार की सदा न रहने वाली वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ लेने पर ही अनेक प्रकार के दुःख, क्षोभ साथ लग जाते

हैं। वस्तुओं की चाह और चिन्तन से रहित होते ही अपने में शान्ति सुलभ होती है।

सम्बन्ध से होने वाली अहंता मिटते ही सम्बन्ध जनित मोह का अन्त हो जाता है। अहं और मम अर्थात् मैं और मेरा का सम्बन्ध ही भोग है। वृत्ति का स्फुरण ही प्रवृत्ति है। वृत्ति स्फुरण न होना ही निवृत्ति मार्ग है। निवृत्ति में ही परम शान्ति है। शान्ति के अन्तर्गत ही सत्य का बोध है।

जिससे हमें देह, मन, बुद्धि आदि वस्तुयें मिली हैं, शक्ति योग्यता मिली है, वही परमात्मा अपना है। अपना इसीलिये है कि वह अपने को कभी नहीं छोड़ता, अपने से कभी भिन्न नहीं होता।

जिन वस्तुओं व्यक्तियों के संयोग सम्बन्ध से भोग होता है, उन्हीं के संयोग के सदुपयोग से सेवा हो सकती है, उन्हीं के बीच में रहकर त्याग हो सकता है और अन्त में प्रेम हो सकता है।

हमें सन्त ने समझाया है कि तन को अन्न, जल, सात्विक आहार दो, इन्द्रियों को शब्द, रस, रूप द्वारा सात्विक आहार का ही पक्ष लो।

मन द्वारा संत एवं भगवान से सम्बन्ध जोड़ते हुए तथा बुद्धि में भी संत सद्गुरु एवं धर्मशास्त्र द्वारा सात्विक विचार बढ़ाओ। बुद्धियोगपूर्वक सावधान रहकर अहंकार को भी आठ प्रकार के अभिमानी से ऊपर उठाकर सन्त और भगवान सम्बन्धित सतोगुणी बनाओ।

तन को दुर्गन्ध तथा मलरहित करना, शुद्ध करना तन का शौच है। विषयासक्त न होना अहंकार का शौच है। अज्ञान को दूर करते जाना बुद्धि का शौच है असंग होना अहंकार का शौच है, अर्थात शुद्धि है।

जिस साधक की बुद्धि शुद्ध होती है वह सत्यदर्शी, दूरदर्शी, परिणामदर्शी होता है। वह दृश्य की अथवा इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले विषयजनित सुख को सत्य नहीं मानता, परमात्मा को आत्मा को सत्य जानता है।

जिस साधक का मन शुद्ध होता है वह अप्राप्त की कामना नहीं करता। जो कुछ जैसा जितना मिला है उसी में प्रसन्न रहता है और मिली हुई शक्ति–योग्यता से तथा सम्पत्ति के द्वारा दूसरों की सेवा सहायता करते हुए सन्तुष्ट रहता है। केवल परमात्मा को ही अपना मानता है। वह ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान, मोह, लोभादि विकारों से रहित होता है।

जिस साधक का चित्त शुद्ध होता है वह व्यर्थ अनर्थ चिन्तन से दूर रहता है। सदा आत्मा परमात्मा का चिन्तन करते हुए शांत रहता है। किसी का बुरा नहीं चाहता, किसी की निन्दा बुराई नहीं करता, किसी के दोष नहीं देखता।

बुद्धियोग सम्यकदर्शी पुरुष सर्वत्र अर्थरूप परमात्मा को देखता है। जिस प्रकार विद्वान शब्दों में अर्थ देखता है, नोट में अर्थ रूप

धनराशि को देखता है, उसी प्रकार तत्वदर्शी जगत् दृश्य में जगदाधार परमेश्वर का अनुभव करता है।

जब तक साधक साधना करते हुए वासना, कामना की पूर्ति में सुख मानता है, किसी से द्वेष रखता है, वस्तुओं का संग्रह करता है, तब तक वह न सेवक हो सकता है न नेता हो सकता है, न गुरु हो सकता है, न किसी का स्वामी बन सकता है क्योंकि उसका स्वामी मन बना रहता है, वह मन की ही बात मानता है।

जो साधक त्याग करने योग्य का त्याग नहीं कर पाता वह रागी है, नित्य प्राप्त परमात्मा को जो अपने साथ नहीं अनुभव कर पाता, वह सत्य विमुख है।

अविवेकी भोगी धन संचय को श्रेष्ठ मानते हैं। विवेकी जन तप द्वारा शक्ति संचय को, सत्संग द्वारा ज्ञान संचय को, सेवा द्वारा गुण संचय को, विरक्ति द्वारा प्रेम योग को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

बुद्धियोगी विवेकी प्रेमी संयमी निष्काम पुरुष मनोमय रथ से उतर कर अर्थात् मनोरथ का त्याग कर स्थिर बुद्धि सारथी के साथ विश्राम करते हैं, आगे बढ़ कर सर्वसंग से रहित होकर परम प्रियतम परमात्मा का एकान्त योगानन्द प्राप्त करते हैं।

परम प्रियतम प्रभु के पास ऐसा कुछ नहीं जो सब का न हो, उनके पास जो कुछ भी है उसके सभी अधिकारी हैं।

जब तक साधना के पीछे मान की, धन की, भोग की चाह है तब तक साधक सांसारिक सीमा को पार कर मुक्ति भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है।

वह कर्म प्रवृत्ति भी कल्याणकारी होती है जो सर्वहित के भाव को लेकर होती है। यह निवृत्ति भी बन्धकारी बनती है जिसके पीछे कोई वासना छिपी रहती है।

सुखासक्त मनुष्य के लिये सेवा का व्रत अन्तःकरण की शुद्धि सर्वोत्तम साधन है, परन्तु (लोभ) अर्थ और काम के त्याग बिना सेवा नहीं हो सकती। सेवा के बिना संसार का रोग दूर नहीं होता। सच्चा सेवक अभिमान, लोभ, क्रोध, ममता, आलस्य का पूर्ण त्यागी होता है। भोग सुखों से सदा विरागी होता है।

जो सुख या मान मनुष्य से मिलता है उसे न चाहने वाला साधक भगवान की कृपा का सर्वत्र अनुभव करता है। जो जगत से मिलने वाले सम्मान, अधिकार के लिये मरता है, वह अनन्त की कृपा से दूर रहता है।

किसी सम्बन्धी की मृत्यु में प्रायः लोग अपनी ही चिन्ता करते हैं, किन्तु सब कुछ छोड़कर जाने वाले की क्या दशा होगी; उसकी चिन्ता कौन करता है? जबकि खाली हाथ जा रहा है।

जिसने जो मांगा उसको वही देने वाले, स्वयं किसी से कुछ न मांगने वाले यह दो प्रकार के पुरुष संसार में दुर्लभ हैं।

दुर्लभ पद प्राप्त करने के लिये वर्तमान में जो कुछ भी सुलभ है उसी के द्वारा दूसरों की सेवा करनी चाहिये।

सेवा व्रती को दूसरों को अपने सुख के लिये कष्ट न देने का संकल्प करना चाहिये।

दूसरों को कष्ट न देना अहिंसा है, सुख देना दया है–

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये, जब लगि घट में प्रान।।

भगवान की दया दुःख की कृपा से होती है। भगवान के मंगलमय विधान से अच्छा देने के लिये अथवा नया देने के लिये जो कुछ पुराना है, असुन्दर है वह लिया जाता है। निवृत्ति छीनी जाती है। मुक्ति के लिये बन्धन में डालने वाली वस्तु ली जाती है। इस लेन–देन में ही भक्त और भोगी की, रागी और त्यागी की, प्रेमी और मोही की परीक्षा हो जाती है।

प्रभु की कृपा प्रभु से बढ़कर है, प्रभु के दर्शन से वह लाभ न होगा जो कृपा से हो सकता है, इसे बुद्धियोगी ही देख पाते हैं।

जो संसार के सुखों में आसक्त है, वह कृपा का आदर नहीं कर पाता। इच्छा पूर्ति से जो सुख मिलता है, वह पुनः इच्छा को उत्पन्न करता है। परापेक्षित सुख पराधीन बनाता है। प्रमादी को ही भोग सुखों में आसक्ति प्रवृत्ति होती है। जो ज्ञान विवेक का आदर नहीं कर पाता वह प्रमादी है। श्रद्धापूर्वक मान देने से अज्ञानी में ही प्रमाद की उत्पत्ति होती है।

जब तक धर्म का, विवेक का, सन्तों, महात्माओं, विद्वानों का आदर नहीं किया जाता, श्रद्धा दृढ़ नहीं होती, तब तक प्रमाद की निवृत्ति नहीं होती।

जहाँ मिले हुए का भोग होने लगता है वहीं रुकावट हो जाती है। जो मिले हुए का सदुपयोग करते हुए भोग का तथा दोषों का त्याग करता जाता है उसी की सद्‌गति परमगति होती है। त्याग में ही समस्त विकास निर्भर हैं।

जब संसार के सुखों की आशा नहीं रहती, तभी त्याग सुगम हो जाता है। निराश होने पर ही जगत का सम्बन्ध टूटता है।

तब लग योगी जगद्‌गुरु, जल लौं रहे निराश।
जब आशा पीश्रे लगी, जग गुरु योगी दास।।

आशा, भय, लोभ स्नेह से रहित साधक ही संसार के शासन से मुक्त होता है। सन्त ने समझाया कि–

जो सुख का भिखारी है उसमें सामयिक कर्त्तव्य का जीवन के लक्ष्य का विवेक नहीं रहता। सुख का लालच ही भोगी को योग की साधना में तत्पर नहीं होने देता। सुखोपभोग के अन्त में जब दुःख आता है जब दुःख के भोगी से त्याग का बल नहीं रहता।

बुद्धियोगी मनुष्य दुःख आने पर विचार करता है, वही दुःख का मूल कारण दोष को पहिचान लेता है, वही त्यागी हो पाता है।

दुःखी होकर रोना, व्यथित होना भोग है। दुःख के कारण की खोज करना बुद्धिमत्ता है, विचार है। जो दुःख का भोगी है वह अविवेकी है, जो दुःख को देखता है वह विवेकी है, वही बुद्धियोगी है।

सन्त सावधान करते हैं कि जो सदा नहीं रहेगा उसकी दासता में क्यों बंधे हो और जा आ ही जायेगा उससे भयभीत क्यों होते हो? जो सदा नहीं रहेगा उसी की ममता का त्याग करो।

मन में सुखोपभोग की आदत पड़ जाती है। उस आदत पर बुद्धिमान विद्वान जब अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, तभी वस्तु व्यक्ति की दासता से छूट पाते हैं।

जो सुख की चाह का त्याग कर सका है, वही जगद्गुरु है। जगत की दासता में आबद्ध कितना ही विद्वान क्यों न हो, जगद्गुरु नहीं हो सकता। जो सुख–दुःख के प्रभाव से हिलता नहीं है वही शान्त है। जो दुःख–सुख की सीमा को जानता है वह सदा न रहने वाले सुख–दुःख से विचलित नहीं होता। जो सदा समता में स्थिर है वही सन्त है, वही बुद्धियोगी है।

तुम बुद्धियोगी होकर जो सदा रहेगा उसी से प्रेम करो, जो देह, मन आदि वस्तु मिली है उनका सेवा में सदुपयोग करो।

****

साधनामय जीवन के कर्त्तव्य

यह सत्य है त्याग प्रेम को ही जीवन में पूर्ण बनाना है।।
इस राग द्वेष की सीमा को जैसे हो तोड़ मिटाना है।।
जब तक हम रागी द्वेषी हैं, इस जग से हुआ विराग नहीं।
जब तक अन्तर में भेद भाव, तब समतामय अनुराग नहीं।
चिन्ता भय को आस्तिक जीवन, में मिलता कोई भाग नहीं।
जब तक कि अहंता ममता है, तब तक हो पाया त्याग नहीं।
अब आत्म निरीक्षण करके, सब दोषों को दूर हटाना है।।
अपना हित तभी हो सकेगा, जब मान भोग की चाह न हो।
सेवा से आत्म–शुद्धि होगी, जब सुख–दुःख की परवाह न हो।
तब सुलभ पर गति होगी, जब वासना रोकती राह न हो।
बाधायें हटती जायेंगी, जब कहीं शिथिल उत्साह न हो।
जो कुछ भी शक्ति प्राप्त हमको, अब सदुपयोग में लाना है।।
चाहते यही हम सब प्राणी, आनन्द प्राप्त हो जीवन में।
यद्यपि हम खोज रहे इसको, विषय भोग वैभव धन में।
थक कर फिर कभी झाँकते हैं, गिर गुहा सिन्धु तट में वन में।
जब तक अपूर्णता दिखती है, तब तक है चैन नहीं मन में।
पूर्णता सत्य में रहती है, हमने असत्य में माना है।।
त्याग की पूर्णता में न रहेगा, अहं और मम का बन्धन।
फिर असंगता ही हो जायेगी, नित्य मुक्ति का सुचि साधन।
प्रेम की पूर्णता होते ही, सर्वमय मिलेंग आनन्दघन।
जड़ चित् चिन्मय हो जायेगा, योगी होगा, यह भोगी मन।
है यही 'पथिक' का परम लक्ष्य–परमार्थ, इसे ही पाना है।।

प्रेम—योग

जहाँ प्रेम का भोग नहीं होता वहीं नित्य प्राप्त परमप्रभु का योग होता है।

जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है, जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है। परमात्मा से सर्वोपरि अनुरक्ति को ही मुनिजन प्रेम कहते हैं। परमात्मा विष्णु के प्रति अनन्य भाव ही प्रेम है।

सच्चदानन्द तत्व से अतिरिक्त जब अनित्य नाम रूप में प्रेम होता है तब वह काम रूप में परिणत हो जाता है।

आनन्दमय कोष में प्रेम नित्य शुद्ध है।

विज्ञानमय कोष में प्रेम अपने से भिन्न प्रेम पात्र को देखने लगता है।

मनोमय कोष में प्रेम की किरणें काम से लिपटी हुई आवरण से आविष्ट हो जाती हैं।

अभिमानी मनोमय पुरुष प्रेम का भोगी बनता है। ज्ञानी विज्ञानमय पुरुष प्रेम द्रष्टा बनता है। तत्वविद् आनन्दमय पुरुष योगी होता है।

आचार्य ने समझाया है कि प्रेम और प्रज्ञा ही परमात्मा प्रकट होने का दिव्य स्थल है। प्रेम और प्रज्ञा द्वारा ही परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है। जो प्रेम को लेकर उपस्थित है उसके लिये परमात्मा कभी अनुपस्थित नहीं है।

जो जीवन में अटूट प्रेम पा लेता है वह पूर्णत्व को पा लेता है।

परमात्मा की योगानुभूति का सर्वोपरि सुगम साधन प्रेम है। जहाँ प्रेम प्राप्त नहीं है वहीं नीरसता रहती है।

जब प्रेम जड़मय नहीं रहता तब चिन्मय, प्रभुमय होता है। जब प्रेम भीतर होता है तब प्रभु भी भीतर ही मिलते हैं, जब प्रभु भीतर मिलते हैं तब बाहर भी सर्वत्र सब में प्रभु के दर्शन होने लगते हैं।

मन्दिरों में प्रभु की उपासना करने वालों की साधना उसी समय पूर्ण होती है जब हृदय ही प्रेम से भरपूर मन्दिर बन जाता है।

एक सन्त कह रहे थे कि समाधि से प्रज्ञा जाग्रत होती है, प्रज्ञा में प्रेम प्रकट होता है, प्रेम में आनन्दमय प्रभु की अनुभूति होती है।

प्रेम ही ज्ञान बन जाता है। यदि प्रभु का ज्ञान हो जाये तो ज्ञान ही प्रेम हो जाता है। प्रज्ञा से दर्शन होता है और प्रेम से पूर्ण योग होता है।

प्रेमी सन्त का सन्देश है कि–

विशुद्ध प्रेम ही परमात्मा है, प्रेम में ओत–प्रोत हृदय ही परमात्मा का मन्दिर है। जब तक प्रेम के अभाव में मानव अशान्त है तभी तक परमात्मा को खोजता है।

एक आचार्य कह रहे थे कि परमात्मा को नहीं प्रेम को खोजो। प्रेम को पाते ही परमात्मा को पा लो। प्रेम ही परमात्मा की मूर्ति

है—उसे हृदयरूपी मन्दिर में ही प्रतिष्ठित करो, वहीं नित्य उपासना करो।

साम्राज्य छोड़ना आसान है, प्रेम की प्राप्ति के लिये ज्ञान का अहंकार छोड़ना कठिन काम है।

जब हम ज्ञान के अहंकार में होते हैं तब प्रेम हम में संकीर्ण हो जाता है और जब हम प्रेम में होते हैं तब अहंकार की संकीर्णता का ज्ञान होता है। अहंकार के भीतर रहने और बाहर निकलने का तो द्वारा है, परन्तु प्रेम का एवं परमात्मा का कोई द्वारा नहीं है। वह तो असीम है, अनन्त है, अखण्ड है। इसीलिये प्रेम में परमात्मा में आश्रय पाने के लिये अहंकाररूपी द्वार से निकलना होता है। अहंकार की मृत्यु आत्मा का जीवन है—यह बात मैंने सन्त से सुनी थी।

एक सन्त का कथन है कि जिसकी प्रीति बिखरी है वह परमात्मा को नहीं पा सकेगा, क्योंकि जिसे प्रेम प्राप्त है उसे परमात्मा की प्राप्ति प्रेम में ही हो जायेगी। प्रेम के बिना कितने ही मन्दिरों में जाओ, प्रभु वहाँ नहीं मिलेगा।

जब तक किसी के प्रति प्रीति है तब तक मोह बना ही रहेगा और जहाँ तक आसक्ति है वहाँ तक वासना भोगों के लिये प्रेरित करती ही रहेगी।

प्रेम का अभाव ही मानव को सर्वोपरि दरिद्र बनाये हुए है। कोई एक व्यक्ति के समक्ष अपने 'मैं' को जब भूल जाता है तब वह उदार प्रेमी हो जाता है और वही मानव जब सभी के समक्ष अहंकार को खो

देता है तब समर्थ विशाल हृदय वाला भक्त हो जाता है। परन्तु स्वयं अपने को ऐसा नहीं जानता, दूसरे लोग उसे ऐसा ही देखते हैं। प्रेम से पूर्ण हृदय में समस्त सद्‌गुण ही रहा करते हैं, हिंसा, द्वेष, घृणा, क्रोधादि विकार उसमें रहते ही नहीं।

एक सन्त कह रहे थे कि स्वयं को ही सब में पाकर जब सबके लिये अबाध प्रेम की धारा बहती रहती है तब प्रेम करना नहीं पड़ता, वह तो स्वभाव बन जाता है। वह प्रेम को पाता नहीं, प्रेम में होता है।

जब तक आनन्द उपलब्ध नहीं होता तब तक प्रेम की धारा प्रवाहित नहीं होती।

जो स्वयं को नहीं जानता वह आनन्द का अधिकारी नहीं होता।

सन्त सावधान करते हैं कि तुम वस्तुओं की समृद्धि में आनन्द की कल्पना कदापि न करो, वस्तुओं की समृद्धि तुम्हारी समृद्धि नहीं है। जितना अधिक वस्तुओं की वृद्धि का अभिमान होगा उतनी ही दासता, विलासिता की ही वृद्धि होगी।

जो स्वयं से संसार की ओर चलता है, वह कभी सुख पाता है और उस सुख का अन्त दुःख में होता है।

जो संसार से स्वयं की ओर चलता है, उसे भ्रमवश प्रथम दुःखाभास होता है अन्त में आनन्द होता है।

अनेक साधक परमात्मा को जप में, कीर्तन मे, तप में, त्याग में, यम, नियम, संयम में खोजते हैं। अनेक साधक मन्दिरों में, मूर्तियों में,

लीलाओं में, अनुष्ठानों में खोजते हैं। अनेक साधक कुछ पाकर, कुछ देखकर, कुछ सुनकर, कुछ मानकर सन्तुष्ट होते हैं, परन्तु खोज चलती ही रहती है, साधन श्रम चलता ही रहता है, विश्राम किसी को नहीं मिलता।

अनेक साधकों को कुछ देखते, सुनते पाते रहने में ही आनन्द आता है, वह विश्राम चाहते भी नहीं। विश्राम न चाहते हुए भी एक समय ऐसा आता है जबकि परमात्मा के पूर्ण योग बिना अशान्ति बढ़ती है।

साधक में पूर्णता की प्यास जब किसी भी साधनों से नहीं मिटती जब जिज्ञासा जाग्रत होती है कि वास्तव में वह सत्य कहाँ है—जिसके योग से अपूर्णता का दुःख मिट जाता है।

पूर्ण सत्य की सच्ची जिज्ञासा में ही यह समाधान मिलता है कि सत्य परमात्मा जप, कीर्तन, पूजा—पाठ मन्दिर, मूर्ति आदि में नहीं है वह तो केवल प्रेम में ही है। यदि प्रेम है तो परमात्मा जहाँ देखो वहीं मिलेगा, वह जड़ पाषाण में भी मिलेगा। प्रेम नहीं तो चेतन में भी न मिलेगा।

जो साधक प्रेम को पकड़ लेता है उसे परमात्मा को खोजना नहीं पड़ता, आनन्द को खोजना नहीं होता। शान्ति के लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

सहस्रों जन भगवान के दर्शन करने जाते हैं और लौटने पर वैसे ही बने रहते हैं, जैसे मन्दिर में न जाने वाले होते हैं; क्योकि वे प्रेम के योगी नहीं हैं।

आँखें खोलकर देखने से परमात्म4ा नहीं दिखाई देता, आँखें बन्द करके बैठने से परमात्मा का ध्यान पूर्ण नहीं होता। परमात्मा का दर्शन अथवा ध्यान प्रेम योग द्वारा होता है। प्रेम हो तो कण–कण में परमात्मा का अनुभव होता है। यदि प्रेम न हो तो बड़े–बड़े मन्दिरों में मूर्तियों में भी परमात्मा के दर्शन नहीं होते।

हमारी दो–दो आँखें भले ही खुली हों परन्तु जब तक हमारी भीतर की बुद्धि दृष्टि के पीछे प्रेम ज्योति प्रकाशित नहीं होगी, तब तक हम अपने आप को आन्तरिक सत्ता को अनुभव नहीं करा सकते।

एक सन्त ने बताया कि जो अपने को अस्वीकार करता है, वही स्वस्थ है जो 'पर' से असंग होकर 'स्व' को स्वीकार करता है वही स्वस्थ है। एक सन्त कह रहे थे कि प्रायः हम सबके साथ तो हैं पर अपने साथ नहीं हैं। जब अपने साथ नहीं तब परमेश्वर के साथ कैसे अनुभव कर सकते हैं?

यदि प्रेम का योग है तो क्षुद्र 'मैं' के भीतर ही महान परमात्मा का अनुभव होगा। प्रेम शून्य रहने तक विराट संसार में भी परमात्मा नहीं दीखेगा।

परमात्मा को पाने की प्यास अति प्रबल होनी चाहिये। परमात्मा को देखने के लिये दृष्टि खुली होनी चाहिये। प्यास है तो महान यात्रा

के द्वारा समुद्र खोज लेंगे, प्यास नहीं है तो समुद्र के तट पर बैठकर भी उसकी जानकारी नहीं प्राप्त करेंगे।

दृष्टि खुली है तो जहाँ हम हैं वहीं अपने भीतर की किंचित प्रकाश ज्योति से सारा अंधेरा मिट जायेगा। यदि दृष्टि नहीं खुली तो अनेक सूर्य भी हमारे सामने का अंधेरा नहीं मिटा सकते हैं।

परमात्मा को पाने के लिये हम साधकों के भीतर–बाहर प्रेम होना चाहिए। यदि हम प्रेम में हैं तो जीवन की समग्र यात्रा में सभी के साथ प्रेम का ही परिचय देना होगा। जो हमारे भीतर होगा वही बाहर प्रकट होगा।

सन्त कहते हैं, प्रेम करो। सबको प्रेम करो। परमात्मा देखता है कि तुम्हारे भीतर से क्या प्रकट हो रहा है।

जिसकी प्रीति संसार में ही होती है, वह कामी ही बना रहता है। जिसकी प्रीति विरक्त सन्त में होती है, वह कभी न कभी तत्व ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जिसकी प्रीति किसी बहाने भगवान में होती है, वह कभी न कभी भक्त हो जाता है। जिसकी प्रीति निष्काम सेवा में, स्वधर्म में होती है, वह संसार से विरक्त हो जाता है। पात्र भेद से प्रीति का परिणाम शुभ भी होता है, अशुभ भी होता है। अतः साधक को प्रीति जहाँ तहाँ नहीं बिखेरनी चाहिये, परन्तु असावधानी से तथा सुख के लालचवश जहाँ–तहाँ हो ही जाती है और अशुभ परिणाम भोगते हुए भी मोहवश नहीं हटती है।

एक सन्त से मैंने सुना था कि मोह के रहते साधक में कभी क्रोध, कभी द्वेष, कपट, कभी अभिमान तथा लोभ, कभी लोक निन्दा का भय आदि विकास उमड़ते ही रहेंगे। इन विकारों के रहते कोई कठोर तप भी करे तब भी मुक्ति, शान्ति, भक्ति नहीं मिलेगी।

जब कोई साधक मोह के रहते विरक्त सन्त के ज्ञान स्वरूप में दृढ़ श्रद्धा करता है तभी मोह का बन्धन शिथिल होता है। गुरु के प्रवचन सुनते–सुनते क्रोध के अवसर पर जब क्षमा करने की, साथ ही प्रतिकूलता में सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है तभी साधक स्वस्थ हो पाता है, जब उदारता आ जाती है तभी पुण्यमय जीवन बन पाता है। प्रेम में हुए बिना उदारता, क्षमा, सेवा आदि दैवी गुण जीवन में नहीं प्रकट होते।

जब तुम किसी से प्रेम करो तब सावधान रहो और यह देखो कि तुम किससे प्रेम करते हो, तुम्हें अपने समक्ष जो कुछ दिखाई देगा वहीं तुम्हारे भीतर भर जायेगा। अभी तक यही होता आया है। तुमने जड़ देहों को देखा है, इसीलिये भीतर देहों की आकृतियाँ भरी हैं, किन्तु अब तुम्हें देखना है कि उन जड़ आकृतियों अथवा रूपों के भीतर क्या भरा है? उनके भीतर अर्थात् विनाशी देहों के भीतर अविनाशी चेतन भरा है। यदि तुम देहों, आकृतियों, नाम, रूपों के भीतर नित्य चेतन को देखोगे और उसी से प्रेम करोगे तब उसी चेतनत्व से भर जाओगे, तभी तुम्हारे भीतर जड़ के वियोग का प्रभाव न पड़ेगा।

विनाशी को देखने वाला विनाशी से और अविनाशी को देखने वाला अविनाशी से भर जाता है।

जिसके भीतर जो कुछ होता है वह उसी से प्रेम करता है। हमारी तुम्हारी साधना तभी पूर्ण होगी जब प्रेम को जड़त्व की सीमा के पार असीम परमात्मा तक ले जायें।

जो अपने समग्र हृदय से सत्य का अर्थात् परमात्मा का, आत्मा का मूल्य बढ़ा लेता है वही बाहर की वस्तुओं, व्यक्तियों का लोभ, मोह छोड़ पाता है। जिनके भीतर बाहरी वस्तुओं की अपेक्षा कुछ मूल्यवान नहीं दीखता, वही बाहर के दृश्य में, वैभव, ऐश्वर्य, सौन्दर्य में आकर्षित होता है।

जिसका प्रेम किसी वस्तु, व्यक्ति में फंसा नहीं है, जिसके भीतर संकल्प एवं विचार नहीं उठते हैं, वह जहाँ कहीं भी है वहीं प्रभु की उपासना में है, जो कुछ करता है वही पूजा है। वह स्वागत सभी का करता है पर भीतर किसी आकृति को नहीं भरता। जिसके भीतर जड़ नाम रूप भर जाते हैं उसके भीतर पत्थर से भी अधिक कठोरता आ जाती है। इसीलिये किसी पत्थर में भगवान की मूर्ति मढ़ लेना आसान है परन्तु मानव की भीतरी प्रकृति को दिव्यता में बदलना कठिन काम है।

हम साधकों को अपने भीतर कठोरता और कोमलता का निरीक्षण करते रहना चाहिये। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृण आदि आसुरी वृत्तियों से हृदय कठोर होता है और क्षमा, दया, करुण, उदारता,

सहानुभूति प्रीति आदि दैवी वृत्तियों से जो पूर्ण है उसी का हृदय कोमल होता है।

जिसका हृदय जिस किसी को प्रेम करत4ा है उसके लिये उदार रहता है, क्षमा भी कर देता है। प्रेम की सीमा के बाहर मनुष्य में मानवता का परिचय नहीं मिलता। प्रेम का अभाव सबसे बड़ी दरिद्रता है।

प्रेमपूर्वक निष्काम दान सर्वोच्च पुण्य है।

जिसका हृदय प्रेम से पूर्ण रहता है वह किसी बुरे व्यक्ति से भी घृणा नहीं करता, दया ही करता है।

वही सम्यक् द्रष्टा है जो अपने में और सभी में परमात्मा का अनुभव करता है। शरीर, मन, बुद्धि को जो जानता है वही 'स्व' है, जिसे कोई खो नहीं सकता वही स्वरूप है।

ज्ञान की खोज, प्रेम की प्राप्ति स्वयं के बाहर नहीं हो सकती। इतना अवश्य है कि सम्यक ज्ञान के लिये कामना के साथ ही अहंकार समर्पित करना होता है।

सन्त सावधान करते हैं कि जीवन की खोज करने में तुम भले ही देर करो पर मृत्यु तुम्हें खोजने में देर नहीं करेगी। वह तो शरीर, सम्पत्ति, सम्मान, यश, अधिकार आदि सभी कुछ निस्सार बना देगी। इसीलिये स्वयं के आश्रय को अभी जान लो और अभय हो जाओ।

दूसरों की मृत्यु आँखों से दिखाई देती है, किन्तु अपने साथ जो कुछ मृत्यु से घिरा हुआ है उसका दर्शन ज्ञान दृष्टि से ही होता है।

आचार्य के विवेचन में बहुत अद्भुत दर्शन मिला, वह यही कि जो मैं चाहता हूँ वही मेरा स्वरूप है। मैं प्रभुत्व चाहता हूँ, अमृत्व चाहता हूँ, आनन्द और प्रेम चाहता हूँ। जो चाहता हूँ, उसी मय मुझे होना है।

मैं मृत्यु नहीं चाहता हूँ, दुःख नहीं चाहता हूँ, भय नहीं चाहता हूँ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष नहीं चाहता हूँ। जो नहीं चाहता हूँ वही मुझमें नहीं रहना है जो चाहता हूँ वही होता है।

आनन्द, अमृत्व, प्रेम अथवा प्रेममय प्रभु नित्य साथ हैं, परन्तु अनुभूति के लिये जब तक अपना हृदय मस्तिष्क खाली नहीं होता तब तक हम अपने को मृत्यु से दुःखों से मोहादि विकारों से ही घिरा पाते हैं।

वास्तव में जब तक सत्य परमात्मा का और 'स्वयं' का ज्ञान नहीं है, वहाँ प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम के अभाव में नीरसता रहती है दुःख रहते हैं।

प्रेमविहीन व्यक्ति शोषण भले ही करता रहता है सेवा नहीं कर पाता, संग्रह भले ही करता है निष्काम होकर दान नहीं कर पाता है। यदि कभी कुछ देता है तो लेने के लिये ही देता है।

एक सन्त ने हम साधकों को सावधान किया है कि आप यदि प्रेमास्पद प्रभु के लिये व्याकुल है तो वह प्रभु वहीं विद्यमान है जहाँ आपकी दृष्टि पड़ रही है। आप उसी से मिले हुए उसके मिलन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह अभी है, यहीं है। जहाँ आप हैं। आप उसी में होकर उसे खोज रहे हैं उसी में खोज रहे है—यह कैसा विचित्र रहस्य है। इसे समझने के लिये ही प्रज्ञा की जाग्रति चाहिये जो कि सत्य से प्रकाशित है।

सन्त का आदेश है कि तुम प्रभु की अभिलाषा को प्रबल बनाओ तुम मन से न लड़ो, पापों से न लड़ो, मन को बुरा समझकर कोसते न रहो। प्रभु के योग की सतत् प्रतीक्षा में पाप स्वयं नष्ट हो जायेंगे, मन स्वतः ही लग जायगा।

तुम जहाँ हो वहीं पर उसके सन्मुख हो जाओ जिसकी सत्ता से, जिसकी चेतना से सब कुछ देख रहे हो। जो कुछ देख रहे हो, उसे न देख कर उसे देखा जिसकी चेतना से अर्थात् जिस प्रकाश में देख रहे थे।

संसार से विमुख होते ही साधक प्रभु के सन्मुख हो जाता है।

सन्मुख होय जीव मम जबहीं। कोटि जन्म अघ नासहिं तबहीं।।

परम प्रभु का सच्चा प्रेमी वही है जिसका जीवन बाँसुरी की भांति भीतर अहंता, ममता, कामना से शून्य हो गया हो। जो भीतर से शून्य होता है उसी में संगीत के सुमधुर स्वर निकलते हैं, केवल बजाने वाला कुशल कलाकार होना चाहिये।

व्यक्ति के संकल्प अनुसार ही जीवन बनता है और संग के अनुसार संकल्प होता है। जिसका संकल्प होता है। शुभ संकल्प वही है जिसकी पूर्ति के लिये संसार में किसी वस्तु तथा व्यक्ति की आवश्यकता न रहे। शुभ, ंसुन्दर एवं सत्य संकल्प उसे कहेंगे जिसमें किसी से कुछ प्राप्त नहीं करना है वरन् जो नित्य प्राप्त है उसे अनुभव करना है।

जब तक दृष्टि नहीं खुलती तब तक ही साधक सत्य को खोजता है, सत्य की चर्चा सुनता है और उसे ही सत्संग मानकर सन्तुष्ट होता रहता है। दृष्टि खुलते ही सर्वत्र सब में सर्वमय सत्य परमात्मा ही दिखाई देता है। वहाँ केवल देखने के लिये ही सावधान होना पड़ता है न कुछ छोड़ना होता है न पकड़ना रहता है केवल देखना भर रहता है। जो देखते हैं उन्हीं को देखकर यह ज्ञात हो सका है। हमें यह भी बताया गया कि जहाँ ग्रहण एवं त्याग का विचार है, वहीं मानवता है। जहाँ ग्रहण के योग्य, त्याग के योग्य कुछ दीखता ही नहीं है सब विचार शांत हैं, वहीं दिव्यता है, वहीं अनुभूति है।

सन्त ने समझाया कि निष्कामता आने पर जब हम प्रेम करते नहीं वरन् स्वयं प्रेम में होते हैं तब प्रेम अखण्ड परमात्मामय, परमात्मा ही प्रेममय अनुभूत होता है।

प्रेम की प्यास सभी प्राणियों में है, परन्तु प्रेमविद् आचार्य कहते हैं कि प्रेम पाने के लिये प्रेम से भरे रहना आवश्यक है। जो घृणा,

द्वेष, ईर्ष्या से भरा है वह तो उसी को आमन्त्रित करता है। उसके भाग्य में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या ही आयेगी।

जो चाहते हो, अपने में वही भर लो। जिससे मिलना चाहते हो चित्त को उसी मय बना लो—यही सन्त निर्देश है।

जिसका चिन्तन होगा चित्त उसी मय बन जायेगा, अन्त में उसी को प्राप्त होगा। किसी से प्रेम किया नहीं जाता प्रेम में हुआ जाता है।

आचार्य से मैंने सुना कि प्रेम सम्बन्ध नहीं, सद्भाव है। प्रेम को सत्य का प्रकाश बताया है, सत्य की उपलब्धि को प्रेम—यात्रा की पूर्णता बताई है।

वास्तविक ज्ञान तो प्रेम में ही प्रकट होता है। जहाँ प्रेम नहीं है वहाँ अज्ञान ही है।

एक सन्त कह रहे थे कि प्रेम उस दिन परिपूर्ण होता है जिस दिन मेरे बाहर कोई नहीं रह जाता और मैं किसी के बाहर नहीं रह जाता।

हमने यह भी सुना है कि स्वयं के अन्तर्गत जो नित्य रम रहा है उसे जान लेने पर प्रेम प्रकट होता है।

मैंने सन्त द्वारा यह भी सुना है कि तपस्वी त्यागी के भीतर प्रेम के सुप्त रहने में ही काम की प्रधानता रहती है।

प्रेम के अभाव में ही सेवा साधना उपासना के साथ दुःखों की प्रतीति होती है। जहाँ ज्ञान नहीं होता, वहीं प्रेम का अभाव दीखता है।

प्रेम के प्रभाव में स्वतः सेवा चलती है। जो अपने आप में सन्तुष्ट, तृप्त एवं आनन्द से भरा होता है उसी के आचरण में प्रेम ही प्रेम प्रकट होता है।

- प्रेम जोड़ता है इसीलिये योग सिद्ध होता है।
- प्रेम से जिसके द्वारा सत्य का साक्षात होता है वही परम ज्ञान है।

एक आचार्य कह रहे थे कि पृथ्वी में जो प्रेम है वही परलोक के परमात्मा है। इसीलिये सन्त कहते हैं कि सबको, प्राणिमात्र को प्रेम में देखो, द्वेष–घृणा किसी से न करो। प्रेम के द्वारा ही कोई प्रार्थना सिद्ध होती है, पूजा पूर्ण होती है। प्रेम के साथ सर्वत्र सरसता रहा करती है।

परिणामदर्शी विवेकी गुरुजनों का कहना है कि तुम वाह्य दृश्य की अथवा रूप की सुन्दरता में आसक्त न बनो क्योंकि दृश्य में, रूप में, जो आकर्षण है वह उसी का है जो अदृश्य है। अतः तुम बिना देखे ही अदृश्य परमात्मा के प्रेम में अपने आपको तन्मय होने दो।

भोगार्थी किसी से प्रेम की ओट लेकर मोह बढ़ाता है, उसका मोह भी तभी तक चलता है जब तक सुख में बाधा नहीं पड़ती है।

एक सन्त कह रहे थे कि जिस मनुष्य के हृदय में प्रेम जितना गहरा होगा उसमें मानवता उतनी ही ऊँची होगी।

मनुष्य, स्वार्थ और संग्रह (परिग्रह) में जितना ऊँचा होगा मनुष्यता उतनी ही नीची होगी।

जिस हृदय में प्रेम नहीं है वही अति कृपण है, अशक्त है, हीन है, अनेक वस्तुओं व्यक्तियों के आगे दीन है।

जिसमें मानवता जाग्रत नहीं होती वही प्रेम के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को, सम्पदाओं को खोजता है। उसमें अहंकार ही पुष्ट होता है।

प्रेम ही परमेश्वर की प्रभुता है, अलौकिक शक्ति है, सम्पदा है, प्रेम की पूर्णता में ही जीवन की पूर्णता है।

जहाँ प्रेम है वहीं पूर्ण अहिंसा है। प्रेम तोड़ता नहीं, जोड़ता है। प्रेम में भक्षण नहीं संरक्षण है, बन्धन नहीं मुक्ति है, दुष्कृति–विकृति नहीं, संस्कृति है। प्रेम वहीं है जहाँ आनन्द है। सन्त का अनुभव है कि आनन्द स्वयं को तृप्त करता है, प्रेम निकटवर्तियों को तृप्त करता है।

जो अपने को प्रेमी कहते हुए अधिकार के बन्धन में प्रेम पात्र को शासित कर रहा हो, भय दिखा रहा हो, वहाँ अधिकार भोग की लालसा छिपी है, वहाँ शुद्ध प्रेम नहीं है।

जो प्रेमी किसी एक से ही प्रेम करता है वह एक के ही शासन में रहता है। जो प्रेम को निष्काम होकर स्वयं में प्रतिष्ठित देखता है वही मुक्त होता है।

सन्त ने समझाया है कि काम शून्य होने पर प्रेम पूर्ण होता है। जब तक 'मैं' 'मैं' की ध्वनि से शून्यता ढकी रहती है तब तक प्रेम की पूर्णता नहीं अनुभूत होती।

विनाशी के संग से काम की उत्पत्ति होती है। अपने आप में अविनाशी की उपासना से प्रेम की पूर्णता होती है।

सन्त मत में असत् विनाशी के आश्रय से भोग, मोह, आसक्ति आदि विकारों की उत्पत्ति होती है, सत् के आश्रय से योग बोध, प्रेम की पूर्ति होती है।

प्रेम ही मनुष्य को पशु प्रकृति की सीमाओं से पार करते हुए प्रभु तक ले जाता है।

शुद्ध प्रेम कुछ क्रियाओं में उतरकर अपना परिचय नहीं देता, वह तो स्वभाव बन जाता है, इसीलिये सन्त ने समझाया कि प्रेम किया नहीं जाता प्रेम में हुआ जाता है।

प्रेम करना प्रदर्शन है, प्रेम में होना यथार्थ सत्य को पा जाना है। जिस प्रकार नाट्यशाला के रंगमंच पर नाटक खेलने वाले कभी प्रेम करते हुए, कभी क्रोध करते हुए, कभी साधु बने हुए, कभी चोर बने हुए दिखाई देते हैं ये मंच पर जो भी करते हैं वैसे होते नहीं हैं। ये क्रोध करते हैं परन्तु क्रोध में होते नहीं हैं, प्रेम करते हैं प्रेम में होते नहीं हैं, साधु–संन्यासी, चोर, डाकू बनते हैं पर होते नहीं हैं, इसीलिये सब करते हुए, बनते हुए, अपने वास्तविक रूप को नहीं भूलते हैं। इसी प्रकार कोई साधक नाट्यकार की भांति क्रोधी, मोही, लोभी भले

ही दिखाई दे, पर भीतर से क्रोध, लोभ, मोह अभिमान में न हो प्रत्युत इसकें विपरीत प्रेम में हो, ज्ञान में हो, प्रभु में हो, दया में, करुणा में, उदारता में हो तो वह दोषमय, जड़मय न रहकर गुणमय, ज्ञानमय, प्रेममय अपने को पायेगा।

सन्त सम्मति है कि अपने को प्रेम में देखो, ज्ञान में देखो, परमात्मा को देखो। ज्ञानी बनकर प्रेमी बनकर अहंकार पुष्ट न करो प्रत्युत ज्ञान में अहंकार की परिधि को देखो।

प्रेमी सन्त से मैंने यह भी सुना है कि हम सबके जीवन में जितने अंश में प्रेम प्राप्त है उतने अंश में परम प्रभु की निकटता का अनुभव करना चाहिये।

जब हम प्रेम को अपना मानकर किसी को दिखाते हैं अथवा रिझाते हैं तब वह प्रपंच बन जाता है।

जब हम प्रेम को वाणी द्वारा प्रकट करते हैं तब वह जूठा हो जाता है। जब हम प्रेम के मध्य में ईर्ष्या, द्वेष भर देते हैं, तब वह नरक बन जाता है।

जब हम अपने सुखदाता जनों को ही अपना मानते हैं तब वह प्रेम स्वार्थ से ढक जाता है। जब हम एक के प्रति होने वाले प्रेम को अनेक के प्रति बांट देते हैं तब वह व्यभिचार बन जाता है।

जब हम प्रेम को क्रियात्मक सेवा के साथ जोड़ देते हैं, तब वह आत्मशुद्धि का साधन बन जाता है, प्रेम ही पूर्ण होकर परमेश्वरमय हो जाता है। प्रेम और परमेश्वर एक ही है।

प्रेम जब किसी वस्तु व्यक्ति से सम्बन्धित होता है तब राग बन जाता है। प्रेम जब प्रेमस्वरूप प्रभु की ओर मुड़ जाता है तब अनुराग बन जाता है।

प्रेम जब सन्त के प्रति होता है तब श्रद्धामय हो जाता है। जब वस्तु व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित सुखोपभोग की कामना से अलिप्त रह जाता है तब अहिंसा परमधर्म में परिणत हो जाता है।

प्रेम जब अपने आप में ही पच जाता है, प्रदर्शन का संकल्प नहीं उठता है तब संजीवनी हो जाता है।

प्रेम द्वारा ही मानव में दिव्य गुणों का, यथार्थ ज्ञान का विकास प्रकाश होता है।

प्रेम की दिव्य व्याप्ति से द्वेष, भेद, भ्रम का अन्त हो जाता है। आचार्य ने हमें समझाया कि चित्त जब शान्त, शुद्ध होता है तब प्रेम का प्रवाह सीमाओं को तोड़ता हुआ असीम से तन्मय कर देता है।

कठिनता यही है कि प्रज्ञा प्राप्त करने पर ही प्रेम सुलभ होता है जब ज्ञान, शक्ति, विषय वृत्ति से उन्मुक्त हो जाती है तभी प्रज्ञा मं परिणत होती है।

अपने आप में जो नित्य सनातन सत्य विद्यमान है उसे जान लेने पर प्रेम प्रकट होता है। समाधि द्वारा प्रज्ञा प्राप्त होती है।

****

ध्यान योग

हम अपने अहं में जो कुछ भर लेते हैं उसी का अभिमान होता है।

हम अपनी बुद्धि में जो भरते जाते हैं वही अपना जाना हुआ ज्ञान होता है।

हम मन में जो भरते जाते हैं उसी का ध्यान होता है।

अपने से भिन्न वस्तु का अभिमान तथा भिन्न वस्तु का ज्ञान एवं अपने से भिन्न का ध्यान हमें भोगी बनाता है और जो अपने से भिन्न नहीं, जिससे कहीं भी भेद नहीं उस नित्य प्राप्त का अभिमान तथा उसी का ज्ञान और निरन्तर ध्यान हमें योगी बनाता है।

एक ज्ञान ध्यान के अनुसार ही कभी हम लोग सुख का भोग करते हैं, **कभी दुःख के भोग से छूट कर नित्य, निरन्तर आनन्द भोग का अनुभव करते हैं–उसी को ध्यान योग कहते हैं।**

बहुत समय तक नियमपूर्वक आँख बन्द करके किसी प्रकार के दर्शन की प्रतीक्षा को ही हमने ध्यान मान लिया था। कुछ दिनों तक भगवान के चित्रपट को रखकर, उसी रूप को आँख बन्द करके भीतर देंखते रहने को हम ध्यान समझते रहे।

कहीं पढ़–सुनकर, नेत्र बन्द करके ज्योति दर्शन होने की बाट देखते रहे। कभी दीपक की ज्योति में त्राटक लगाने का अभ्यास किया।

दोनों भृकुटी के मध्य में ध्यान लगाने से आज्ञा चक्र में तीसरे नेत्र खुलने की बात पढ़कर त्रिकुटी में ध्यान लगाने का अभ्यास किया।

कई प्रकार के ध्यानाभ्यासी द्वारा जो कुछ भी हुआ उससे संतुष्टि तृप्ति शान्ति नहीं मिली। मन निर्विकार तथा चित्त स्थिर एवं बुद्धि में समता प्राप्त नहीं हो सकी।

सुनने में आया कि एक सद्गुरु दीक्षा देते समय सिर पर हाथ रखकर तीसरा नेत्र खोल देते हैं। ज्योति के दर्शन कराते हैं अथवा एक महात्मा कुछ ही समय में समाधि लगा देते हैं। परन्तु खोज करने पर कई प्रकार के गुप्त भेद विदित हुए।

एक प्रसिद्ध महात्मा दोनों आँखो की पुतली के ऊपर अंगुली रखकर दबाते थे। दबाने से कुछ क्षण में भीतर एक प्रकाश दीखता था। प्रायः वह सभी के नेत्रों को दबाने से उत्पन्न होता है। इसी क्षण स्थायी प्रकाश को ज्योति दर्शन नाम देकर अनेक श्रद्धालु नर–नारियों को शिष्य बनाकर पशु की भांति अपनी गुरुवाई के बन्धन में बांधते जाते थे।

एक ध्यान योग सिखाने वाले बड़े महात्मा चादर उढ़ाकर, सर पर हाथ रखकर मन्त्र पढ़ते थे, साधक शिष्य को बताया जाता था कि हाथों के द्वारा शक्तिपात करते हैं, साधक शिष्य को नेत्र बन्द किये रहता था तभी वह महात्मा युक्ति से बाहर से टार्च की रोशनी नेत्रों में करते थे तभी उसके नेत्रों के भीतर हलका सा प्रकाश चमकता था।

उसे कहना पड़ता था कि प्रकाश आ रहा है—वह महात्मा आगे साधन करने की तथा गुरु सेवा में रहने से सिद्धि मिलने की बात समझा देते थे और दक्षिणा लेते जाते थे।

दो एक महात्मा शक्ति सम्पन्न भी मिले। वह सामने बैठा कर ध्यान कराते थे। लोगों पर शब्दों द्वारा ऐसा प्रभाव डालते थे कि कुछ लोग रोने लगते, हंसने लगते, कोई बेहोश होकर तन्द्रा में डूब जाते थे। इसी को गुरु कृपा मानकर लोग समय काटते पाये गए, परन्तु हमें तो शान्ति, समता, त्याग, प्रेम की पूर्णता का दर्शन नहीं मिला।

कुछ समय बिताने और निरीक्षण के पश्चात् यही निर्णय मिला कि ध्यान किसी दूसरे के द्वारा नहीं हुआ करता और जो ध्यान किसी अन्य के द्वारा लगता है वह सदा अपने वश में रहा नहीं करता।

ध्यान योग की सिद्धि के लिये इन्द्रिय संयम तथा विषय रसास्वाद से पूर्ण विरक्ति एवं सिमटी हुई प्रीति द्वारा एक ध्येय में पूर्ण अनुरक्ति नितान्त आवश्यक है।

कोई साधक अपने हृदय की सारी प्रीति समेट कर अपने को अति प्रिय लगने वाले रूप का ध्यान करता है तब तो अवश्य उसकी चित्त वृत्ति ध्येयाकार होकर प्रत्यक्ष दर्शन का साधन बन जाती है। इसीलिये भगवान कृष्ण के प्रेमी कृष्ण रूप को प्रत्यक्ष देखते हैं। जैसा संकल्प करते हैं वैसा रूप, वैसी ही लीला, वैसा ही धाम दीखने लगता है। इस प्रकार का दर्शन भी कामी, क्रोधी, लोभी, भोगी को नहीं हो पाता क्योंकि उसकी प्रीति बिखर जाती है।

मनुष्य का मन जब तक इन्दियों के शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध तथा रसास्वाद से तृप्त होना चाहता है तब तक उस सुख का अथवा सुखद वस्तु व्यक्ति का ही ध्यान होता रहता है और जब सुख अथवा सुखद वस्तु व्यक्ति में बाधा पड़ती है तब उस दुःख अथवा दुःखद वस्तु व्यक्ति एवं परिस्थिति का ध्यान चलता रहता है; इस प्रकार के ध्यान के लिये किसी आसन, प्राणायाम तथा एकान्त की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रत्येक मनुष्य के मन में सुखद संयोग का और दुःखद वियोग का भी स्वतः ही ध्यान रहा करता है। इस ध्यान के कारण दुःखद संयोग–वियोग को देखने के लिए नाना प्रकार के कर्म करता है। उन कर्मों के परिणाम को भोगने के लिये अपने ध्यान के अनुसार नीच देहों को धारण करना पड़ता है क्योंकि ध्यान भोग में कर्म बनते हैं, ध्यान योग में कर्म करते हैं।

भोगार्थी मनुष्य कभी–कभी किसी की हिंसा का ही ध्यान करता है, कभी चोरी का, व्यभिचार दुराचार का ध्यान करता है।

जो मानव विवेकी होता है वही बुद्धियोग द्वारा स्वधर्म का तथा अपने कर्त्तव्य का एवं प्रभु का और जड़ चेतन के भेद का ध्यान रखता है। मनोयोगी, बुद्धियोगी एवं प्रेम योगी के ध्यान में कितना अन्तर है, यह विरले ही साधक जानते हैं।

ध्यान योग में किसी मूर्ति का, चित्र का, सम्प्रदाय आदि का महत्व नहीं है, वास्तव में महत्व की वस्तु शुद्ध प्रेमतत्व है। प्रेम से ही

ध्यान योग सिद्ध होता है। इसीलिये एक साधक भगवान रामरूप का ध्यान करता है तो कृष्ण रूप के दर्शन नहीं होते हैं और कृष्णरूप के ध्यानी को रामरूप के दर्शन नहीं होते हैं।

भगवती देवी का उपासक देवी रूप को ही देखेगा, शिव का उपासक मनोभिलषित शिवरूप का ही दर्शन करेगा, गुरु मूर्ति का ध्यानी गुरु रूप को ही देखेगा ईसाई के ध्यान में कभी भारतीयों के इष्ट देवता नहीं दिखाई देंगे क्योंकि यह दर्शन, सत्य के दर्शन नहीं हैं दर्शन के पीछे सत्य अवश्य ही है।

ध्यान योग में जितने भी दर्शन हैं वह प्रेमतत्व के द्वारा अपनी भावना कल्पना के ही दर्शन हैं— इस प्रकार के दर्शन में दर्शनीय रूप साधक का ही होता है किन्तु उस रूप में प्रकाशित होने वाला प्रेमतत्व अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा का ही होता है।

ध्यानाभ्यास में साधकों को एक समान सफलता नहीं मिलती। जब मन के द्वारा ध्यान का भोग समाप्त होता है तब ध्यान योग सिद्ध होता है। मन के द्वारा ध्यान का भोग होता है और बुद्धि द्वारा ध्यान योग होता है।

कुछ ऐसे भी भोग हैं जो आसुरी शक्तियों द्वारा प्राप्त होते हैं, और कुछ ऐसे उत्कृष्ट भोग हैं जो देवताओं द्वारा सुलभ होते हैं। असुरों से सम्बन्धित मनुष्य असुरों के अधिकार में और देवताओं से सम्बन्धित प्राणी देवताओं के अधिकार में रहते हैं।

एक सन्त समझा रहे थे कि जब सेवा कार्य में, कर्त्तव्यपालन में, धर्मानुष्ठान में, दान में रुकावट आये, मन बदल जाये तब समझना चाहिये कि असुर बाधा डाल रहे हैं। इसी प्रकार जब तप से, ध्यान से, ज्ञानाचारण से, त्याग से, श्रद्धा से मन उचट जाये, जब किसी भक्त के प्रति श्रद्धेय सन्त तथा गुरुजनों के प्रति दुर्भाव उत्पन्न हो जाये तब समझना चाहिये सुखलोलुप देवता विघ्न डाल रहे हैं।

त्याग, प्रेम, सेवा और ध्यान, ज्ञान के द्वारा जो पूर्णता मनुष्य प्राप्त करता है वह देवताओं को सुलभ नहीं होती। सेवा में सर्वस्व देना है, त्याग में पाना है, ज्ञान में दखना है, ध्यान में होना है, प्रेम में रहना है। आचार्य ने कहा कि जो अपने अति निकटतम है उसमें अपने को देखते रहना ध्यान है। एक ध्यान सदा रहता है। एक ध्यान प्रायः किया जाता है।

जिससे अपनत्व का सम्बन्ध होता है अथवा जिससे अत्यन्त भय, अत्यन्त द्वेष, अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सम्बन्ध होता है, उसका ध्यान करना नहीं पड़ता स्वयं ही ध्यान बना रहता है। ध्यान उसी का करना होता है जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है परन्तु उससे प्रगाढ़ प्रीति नहीं है।

जिस ध्यान में शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन के द्वारा कुछ करना होता है वह ध्यान सम्बन्ध जोड़ने का साधन है, वह ध्यानाभ्यास है। यदि हम साधकजन परमात्मा का ध्यान करना चाहते हैं तो परमात्मा का ज्ञान करना आवश्यक है क्योंकि ज्ञान के अनुसार ही राग और

द्वेष होता है। जिससे विशेष राग, द्वेष होता है उसी का ध्यान रहता है। भोगी मन में जो भोगमय ध्यान का अभ्यास दृढ़ हो गया है इसे हटाने के लिये कई प्रकार के ध्यान प्रचलित हैं। कोई मूर्ति ध्यान करता है, कोई नाद का ध्यान करता है, कोई सोहं शिवोहं वृत्ति का ध्यान करता है। कुछ सन्त अचंचल दीपशिखा की ज्योति का ध्यान सुगमतर बताते है।

ध्यानाभ्यास करते–करते जब इन्द्रियों का कार्य शान्त हो जाये और ऐसा प्रतीत हो जैसे कि द्वार बन्द करके हम भीतर बैठे हों, तब ध्यान योग की सफलता समझनी चाहिये।

अध्ययन द्वारा यह ज्ञात हो सका कि जब तक साधक के अन्नमय कोष में तमोगुण अधिक रहता है तब तक साधानाभ्यास में आलस्य अधिक आता रहता है। जब तक रजोगुण की प्रबलता रहती है तब तक कुछ न कुछ करते रहने की उमंग स्थिर नहीं होने देती। सात्विक आहार सेवन से जब सतोगुण की प्रधानता रहती है तब आसन में स्थिरता, दृढ़ता आती है।

इसी प्रकार साधक के प्राणमय कोष में जब तक तमोगुण की अधिकता रहती है तब तक योगाभ्यास अथवा धारणा द्वारा अन्तर में चक्र दर्शन में अन्धकार बाधक बनता है।

अशुद्ध तमोगुणी भोजन से, कामोपभोग से तथा ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध से प्राणमय कोष तमसाक्रान्त (मलिन), अर्थात् उज्जवल पारदर्शिता होने के स्थान में कालिमा रहा करती है। इसीलिये आँख बन्द करने

पर कुछ नहीं दीखता। अन्तःदर्शन के लिये प्राणमय कोष का स्वच्छ होना, निर्मल होना आवश्यक है। इन्द्रिय–संयम सात्विक आहार और प्राणायम द्वारा प्राणमय कोष शीघ्र ही निर्मल होता है।

अनेक साधक कितने ही वर्षों तक ध्यानाभ्यास करते रहते हैं किन्तु सूक्ष्म देह में प्रवेश नहीं होता, प्राण वश में नहीं होता।

कुछ साधक ऐसे भी मिले जो कि संस्कारवश युवावस्था के आरम्भ से साधनाभ्यासी थे। अनायास ही उनका मन संकल्परहित होता गया, कुण्डलनी शक्ति जाग्रत होकर ऊपर चक्रों को बेधती हुई ऊपर चढ़ने लगी–ऐसी सफलता उन्हें इसीलिये मिली क्योंकि प्राणमय कोष अशुद्ध नहीं था, किन्तु मनोमय कोष सशक्त न होने के कारण, ऐसे साधक के हृदय में घबराहट बढ़ गई, ऊष्णता बढ़ गई, संचित शक्ति का विस्फोट कभी–कभी शुभ नहीं होता।

साधक सिद्धि के लिए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोष की शुद्धि नितान्त आवश्यक है।

असहयोग के लिए सावधान रहने पर वाह्य वस्तुओं, व्यक्तियों तथा दुःखद सुखद का ध्यान शिथिल होगा। क्रमशः उससे सम्बन्ध रहेगा तब ध्यान देकर यह देखो कि ध्यान करने वाला मैं कौन हूँ? मेरा क्या रंग रूप है? क्योंकि जो कुछ भी बाहर भीतर दीखता है वह तो दृश्य है, तुम दृश्य के द्रष्टा हो तुम्हें अपने स्वरूप को ध्यान द्वारा जानना है। तुम स्वयं को जानकर ही सत्य परमात्मा के योग का अनुभव कर सकोगे।

हम साधकों के लिये यह क्रम समझ लेने योग्य है। यदि हमें प्रेम में रहना है और ध्यान में होना है तो ज्ञान में उसे देखना है जो हमारी बुद्धि के समक्ष है।

जब हम शरीर को किसी आसन में स्थिर करते हैं तब आँखों के सामने दृश्य दीखता है। जब आँखों को बन्द करते हैं तब कानों द्वारा निकट या दूर के शब्दों में मन चंचल होता है, साथ ही आगे–पीछे की घटनाएँ तथा अनेक सम्बन्धित वस्तुओं, व्यक्तियों की स्मृतियों का ताँता लग जाता है। उन स्मृतियों में मन को चंचल देखकर हम लोगों में से अनेक साधक किसी रूप चिन्तन के द्वारा या हरिनाम स्मरण या मन्त्र जप के द्वारा कुछ देर के लिये मन को मोड़ लेते हैं, भुक्त–अभुक्त स्मृतियों को दबा देते हैं परन्तु मिटा नहीं पाते।

हमें समझाया गया कि शरीर को आसन में स्थिर करके स्थूल दृश्य के द्रष्टा बनो। शरीर के ढाँचे को, इन्द्रियों के गोलकों को और प्राणों की गति को देखते रहो, सूक्ष्म भावों का निरीक्षण करो, पकड़ो कुछ नहीं, असहयोगी बनकर देखते रहो। पुनः विचारों की गतिविधि को देखो, उनके पीछे रहने वाली वासना को देखो, यही ध्यान का एक सरल क्रम है। सब के अन्त में जो बच रहता है वही सत्स्वरूप है।

जो कुछ भी दीखता है उससे सहयोग न रखकर साक्षी होकर देखना ही संग के प्रभाव से बचने का सरल उपाय है।

जब तक हम अच्छाई–बुराई अर्थात् भले–बुरे के भेद में अटकते हैं तब तक साक्षी नहीं हो सकते।

जब प्रभु का दर्शन बाहर होता है तब नाम रूपात्मक मायामय होता है और जो दर्शन स्वयं में होता है वह मायातीत होता है।

एक सन्त ने सत्य ही कहा है कि जो कुछ तुम्हें दिखाई देता है उसका मूल स्रोत उसी में है जो दिखाई नहीं देता। अतः ध्यान में जो दिखाई देता है उसके सहारे वहाँ पहुँचो जहाँ कुछ दिखाई नहीं देता, जहाँ तुम केवल स्वयं ही रह जाते हो वहीं ध्यान पूर्ण होता है।

जो वृक्ष दिखाई देता है उसका मूल तथा जो सरिता दिखाई देती है उसका स्रोत, जो जगत दिखाई देता है उसका आश्रय, जो सुख दिखाई देता है उसका परिणाम अदृश्य में ही है। ध्यान में उस अदृश्य का बोध होगा।

एक आचार्य कह रहे थे कि समस्त दृश्य को अदृश्य धारण किये हुए है।

हमें समझाया गया है कि चेतना जहाँ निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है वहीं पर जो अनुभूति है वही ध्यान में स्वयं का साक्षात्कार है।

****

समाधि योग

समाधि के विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। अनेकों साधक श्वास की गति रोक रखने को अथवा भूमि के भीतर गड्ढे में कई दिनों तक बैठे रहने को समाधि मानते हैं। कुछ लोग बाह्य ज्ञान से शून्य हो जाने को समाधि कहते हैं।

सविचार समाधि, निर्विकार समाधि, सवितर्क–निर्वितर्क, सविकल्प निर्विकल्प आदि कई भेद समाधि के लिये वर्णित हैं। भाव समाधि, महाभाव समाधि का अपना निराला ही स्थान है। जब तक समाधि के लिये कुछ करना पड़ता है तब तक वास्तविक समाधि सुलभ नहीं होती। एक सन्त का कथन है कि जब ध्यान पूर्ण होता है और ध्यान करना आवश्यक नहीं रह जाता तब समाधि होती है। हमें बताया गया है कि केवल शून्य चैतन्य समाधि है।

जब बुद्धि स्थिर होती है, चित्त शून्य होता है और ज्ञान–जाग्रत रहता है तभी समाधि है। यहीं परम सत्य से पूर्ण एकता का बोध होता है। हमें समझाया गया है कि परिपूर्ण चैतन्य का अनुभव समाधि में ले जाता है। आचार्य ने बताया कि भाव समाधि होने पर दिव्य रूप दर्शन और निर्विकल्प समाधि होने पर अखण्ड सच्चिदानन्द का अनुभव होता है। समाधि की शून्यता में जड़ता नहीं है, तन्द्रा तथा बेखबरी नहीं है। समाधि में अनन्त चिदाकाश रहता है जिसमें आकाश को अवकाश मिलता है। जब किसी प्रकार की सीमा का भान नहीं रह जाता उस पूर्ण ज्ञान की मुक्तावस्था को समाधि कहते हैं। शून्य होते ही पूर्ण भरपूर मिलता है। **जब तक शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि का मन पर**

प्रभाव पड़ता रहता है तब तक समता नहीं आती। समता आये बिना निर्विकल्प स्थिति नहीं होती और निर्विकल्प हुए बिना समाधि की भूमिका नहीं मिलती।

जब दृश्य का आकर्षण समाप्त होता है तब द्रष्टा शान्त सम होता है, उस संगातीत अवस्था में समाधि योग सुलभ रहता है।

जो प्रज्ञा में सदा जाग्रत है और शून्य में ही शान्त है उसे समाधि योग सुलभ होता है।

जब तक किसी भी विषय में आसक्ति रहती है, जब तक चित्त में वृत्तियाँ उठती रहती है जब तक किसी वस्तु, व्यक्ति की स्मृति में चित्त तल्लीन रहता है तब तक साधक समाधि में स्थित नहीं हो सकता। हमें बताया गया है कि–

जब साधक पूर्ण अनासक्त हो जाता है, साथ ही मन को तटस्थ रहकर चिरन्तर देखते रहने के लिए सावधान रहता है और जो कुछ भी हो रहा है उसको साक्षी होकर देखता है तभी समाधि सुलभ होती है।

अनेक पदार्थ–विज्ञानी अणु–परमाणु की शोध खोज कर रहे हैं पर अहंरूपी अणु के विषय में प्रश्न ही नहीं उठाते। अल्पाणु की खोज नहीं करते, वही जड़ वस्तु के पीछे भाग रहे हैं जो आत्म अणु में नहीं रुक सकते, वह कहीं सुखाभास तो पा सकते हैं परन्तु शान्ति नहीं पा सकते।

किसी को कितनी ही अधिक शक्ति सम्पत्ति प्राप्त हो जाये पर वह उनके हाथों में शुभ सुन्दर नहीं रहेगी जिन्हें प्रज्ञा और प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकी है।

प्रज्ञा और प्रेम की प्राप्ति उन्हीं साधकों को होती है जो समाधि को साध लेते हैं।

शुद्ध चैतन्य मात्र जहाँ शेष रहता है वही समाधि है। नित्य शुद्ध, बुद्ध चैतन्य में शान्त होना समाधि है। एक सन्त से मैंने सुना कि जब विचार विलीन होते हैं तब व्यक्ति–सत्ता विश्व–सत्ता में मिल जाती है यही समाधि है। समाधि योग में अहंकार, वस्तु व्यक्तिमय न रहकर चिन्मय होकर पूर्ण से एक हो जाता है।

प्रज्ञा द्वारा ही दर्शन होता है और प्रेम द्वारा मिलन अर्थात् भोगानुभूति होती है। प्रज्ञा और प्रेम के लिये समाधि अनिवार्य है। योग की साधना में आत्म विस्मरण नहीं, सतत आत्म स्मरण आवश्यक है। सतत आत्म–स्मरण समाधि में ही सुलभ रहता है।

समाधि में पूर्ण शान्ति है, स्थिरता है, उस स्थिरता में शान्ति में ही पूर्ण की, अखण्ड की, समग्र की अनुभूति होती है। ऐसी समाधि योग में ही सुलभ होती है। जो नित्य से शाश्वत से जोड़ देता है वही योग है। यदि जड़ जगत् के साथ तन्मयता सुषुप्ति है तो साधना के द्वारा अखण्ड चेतना के साथ एकता की अनुभूति समाधि है।

समाधि में 'स्व' का बोध होता है। जो 'स्व' को जान लेता है वही आत्मा को जानता है। यह भी आचार्य का निर्णय है कि 'स्व' में

सत्य की अनुभूति नहीं होने तक शास्त्र ज्ञान से प्रभु का दर्शन नहीं होता। कोई साधक अपनी कल्पना के साक्षात् को सत्य दर्शन मानकर सन्तुष्ट होते हैं, परन्तु उनका आनन्द स्थायी निरपेक्ष नहीं हुआ करता क्योंकि कभी मिलता है, छूट भी जाता है।

सन्त प्रवचन में सुना है कि जो कुछ भी मान लेता है वह जानने की स्थिति में नहीं टिक पाता। सुनकर मान लिया जाता है, देखकर जाना जाता है।

जाने हुए को मानना यथार्थ विश्वास है। विश्वास सत्य के द्वार तक ले जाता है, ज्ञान प्रकाश में सत्य का अनुभव होता है। अज्ञानी सुनकर अँधेरे में विश्वास करता है, विवेकी ज्ञानी देख कर विश्वास करता है। विवेकी अविवेकी के विश्वास में बहुत अन्तर है। अविवेकी विश्वास द्वारा भोगी बनता है, विवेकी विश्वास द्वारा समाधि योग प्राप्त करता है।

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोष से ऊपर उठने पर निरन्तर आनन्द की अनुभूति ही समाधि है। जहाँ मनोमय, विज्ञानमय कोष में उतरना होता है वहीं पर बुद्धि को चिन्मात्र स्वरूप में स्थिर करने की और मन को अनुपम गुणनिधान में लगाने की आवश्यकता रहती है। समाधि से उतरने पर भक्ति को अथवा भगवद् कथा रसामृत की आवश्यकता रहा करती है क्योंकि मन, इन्द्रिय विषय के सहारे ही पतित या उत्थित होता है। मनोमय पुरुष आरम्भ में उपासना एवं तप

के सहारे समाधि में पहुँता है। मन का लय हो जाना मात्र जड़ समाधि है।

समाधि अवस्था में परमात्मा से पूर्ण एकता होती है, वहाँ अहंकार नहीं रहता। समाधि से उतरने पर अहंकार कुछ न कुछ बन कर सन्तुष्ट होता है।

ज्ञान द्वारा समाधि से स्थिरता कभी–कभी जड़ता में तल्लीन कर देती है, भक्ति द्वारा भाव समाधि विलक्षण अनिवर्चनीय होती है।

संयमित सबल भाव योग अथवा प्रेम योग द्वारा अधः स्थित कुण्डलिनी शक्ति स्वतः ही जाग्रत होकर चक्रों को जगाती हुई सुषम्ना पथ द्वारा सहस्रार में जब चढ़ जाती है तब समाधि होती है–ऐसा अनुभवी सन्तों से सुना गया है।

बुन्दहिं सिन्धु समान, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हेरान, अहमद आपुहिं आप महँ।।

शब्दों द्वारा हम सत्य के विषय में सुनते हैं। शब्द सत्य परमात्मा के सम्बन्ध में तो हैं, पर शब्द ही सत्य नहीं हैं। यह भी गुरु संकेत है कि–शब्द, जहाँ शून्य में विलीन होते हैं वहीं समाधि उपलब्ध होती है।

जो नित्य चेतन है उसमें जाग्रत बने रहना समाधि है। जब 'मैं' नहीं होता तब जो शेष है वही समाधि है।

शून्य का अर्थ जड़ता नहीं है, प्रत्युत शून्यता का अर्थ है जहाँ विचार शान्त हैं, वहीं शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द का बोध होता है, बाहर

दृश्य दर्शन है भीतर शून्य में उतरते ही सच्चिदानन्द परमप्रभु का दिव्य स्पर्श है। अपने में होकर ही उसका अनुभव होता है। बाहर तो दृश्य है भीतर द्रष्टा है, इसीलिये दृश्य मं नहीं अटकना है द्रष्टा को देखना है। देखने वाले को ही देखना है, पर दीखेगा कैसे?

वेद में बताया है– तुम वहीं हो जिसे खोज रहे हो। सब कुछ के देखने वाले तुम्हीं हो तुम अपने को देखो।

****

आपका सबसे बड़ा सहायक

आपको अपना लाभ स्वयं संभालना होगा। दुर्बलताओं को अपने हृदय से स्वयं बाहर निकाल फेंकना होगा। अपनी शक्तियों में श्रद्धा जाग्रत करनी होगी। जब आप दोषदर्शी स्वभाव से मुख मोड़कर स्वयं अपनी दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न करेंगे, तभी भीतर से परिवर्तन प्रारम्भ होगा।

मनुष्य को अपनी दुर्बलताओं को दूर करने के लिये प्रतिदिन उद्योग करना चाहिये। निरन्तर प्रयत्न, उद्योग, सतत अध्यवसाय से वे दूर हो सकेंगी।

इसी पुस्तक से

कृपानुभव

प्रभु कृपा महान है।

जहाँ सुलभ सत्यसंग अहं निरभिमान है।।प्रभु0।।

जो किसी विपत्ति में न धैर्य छोड़ता कभी।
जो स्वधर्म कर्म से मुख मोड़ता न कभी।
शक्ति सदुपयोग का जहाँ कि सतत ध्यान है।।प्रभु0।।

जगत में पर्याप्त वस्तु की न चाह हो जहाँ।
ईर्ष्या, विरोध, क्रोध की न राह हो जहाँ।
मुक्ति भक्ति के लिये जिसे कि आत्मज्ञान है।।प्रभु0।।

जो असंग रह सके जिसे न क्षोभ हो कहीं।
जन–धन अधिकार भोग का न लोभ हो कहीं।
जबकि शत्रु मित्र लाभ हानि में समान है।।प्रभु0।।

शान्ति दीखती जिसे सकल विकार त्याग में।
रहे कर्म व्यस्त पर, फँसे न चित्त राग में।
जो कि प्राप्त भोग में, सतर्क सावधान है।।प्रभु0।।

जब वियोग का न भय, संयोग की न दासता।
दृष्टिगत जिसे सुखैश्वर्य तुच्छ भासता।
वही कृपा पात्र श्रेष्ठ परम भाग्यवान है।।प्रभु0।।

पतित पावनी समर्थ कष्टनाशिनी कृपा।
दुःख में छिपी अनन्त सुख प्रकाशिनी कृपा।
'पथिक' कृपा का विचित्र देखता विधान है।।प्रभु0।।

साधु वेष में पथिक का संक्षिप्त परिचय

आपके शरीर का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में सम्वत 1935 में हुआ था। आपके पिता जिला फतेपुर ग्राम–बकेवर के रहने वाले थे। कालान्तर में वह जाकर ग्राम–साढ़ जिला कानपुर में रहने लगे। आपकी बाल्यावस्था ननिहाल में व्यतीत हुई। वहीं पर कुछ शिक्षा प्राप्त की। आपको बचपन से देवी–देवताओं पर पूर्णतः विश्वास था। आपके माता–पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आप ग्राम के बाहर भूँधरा खोदकर तप करने लगे। इस अवस्था में भी अनेक लोग आपके दर्शन करने आया करते थे।

बाल्याकाल से ही किसी से उपदेश सुने बिना भगवान के नाम जप स्मरण में विश्वास था। आरम्भ से ही एक परमहंस अवधूत सन्त में श्रद्धा हो गयी जो नग्न ही घूमते थे। कोई वस्त्र न रखते थे। स्नान के पश्चात खाक लगा के जल सुखाते थे। उसे विभूति कहते थे।

गुरु महाराज ने आपका नाम ''पलकनिधि'' रखा था। वैसे आस–पास के गाँव के लोग आपको ''ब्रह्मचारी'' कहा करते थे। सीतापुर में आपने बहुत समय तक तप किया। नदी किनारे पर्ण कुटी बनाकर आपने तप किया। उस समय आप टाट का ही अचला, लंगोटी, बिछाने ओढ़ने के लिये भी आप टाट का ही प्रयोग करते थे। चना, गेहूँ को फुलाकर खाते थे।

पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्रेरित होकर सब कुछ छोड़कर साधु वेश में विचरण करते हुए अनेकों कविताएं लिखीं। एकान्त सेवी होने के कारण पद्य के साथ साथ गद्य लिखना आरम्भ हुआ। लगभग पैंसठ पुस्तकें छपी। मान प्रतिष्ठा पूजा भेंट से सदा विरक्त रहकर विचरण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का समाजव्यापी प्रचार बढ़ता गया, विचारों की प्रधानता से विचारक समुदाय की वृद्धि होती गयी। 'साधु वेष में एक पथिक' नाम से कल्याण में

लेख छपते रहे। आपने अठसराय में नागा निरंकारी विद्यालय बनवाया और जिला कानपुर ग्राम–साढ़ में भी आपने विद्यालय बनवाया है।

ज्येष्ठ–शुक्ल पंचमी तदनुसार 10 जून 1997 को परमार्थ आश्रम हरिद्वार में आपका शरीर पूर्ण हुआ और वहीं पर भव्य सन्त पथिक समाधि मन्दिर बना है।